बुन्देलखण्ड की प्राचीनता

भाषावैज्ञानिक ऐतिहासिक एवं भौगोलिक अनुशीलन :

विद्यावारिधि

डॉक्टर भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

ज्येष्ठानुसंधानपण्डितगणाभ्यन्तर

(Senior Research Fellow)

वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय

१९६५

विद्वद्-गोष्ठी

वाराणसी

प्रकाशक

गोपालप्रसाद शुक्ल 'सुमेर'

मन्त्री

विद्वद्-गोष्ठी

डी० ९/११० मीरघाट, वाराणसी।

प्रथम संस्करण; वि० सं० २०२१; सन् १९६५ ई०

ग्यारह सौ प्रतियाँ

बुन्देलखण्ड की प्राचीनता—मूल्य—सात रुपया पचास नये पैसे—प्रस्तुत पुस्तक में डाक्टर भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' ने भाषाविज्ञान, इतिहास तथा भूगोल के प्रमाणों द्वारा बुन्देलखण्ड की प्राचीनता प्रतिपादित करने का भगीरथ प्रयास किया है। बुन्देल शब्द का उद्भव 'पुलिन्द' शब्द से हुआ है इसके लिए उन्होंने विद्वत्तापूर्ण युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। ग्रन्थ अनुशीलन-प्रिय विद्यार्थियों के लिए पठनीय एवं संग्रहणीय है।

वाराणसी　　　　कमलाप्रसाद अवस्थी 'अशोक'
मेषसंक्रान्ति, २०२२ वि.　　(सहायक सम्पादक 'आज')

प्रमुख विक्रेता—काशी-पुस्तक भण्डार, चौक, वाराणसी

मुद्रक

गनेश प्रसाद

न्यू किरण प्रेस,

जगतगंज, वाराणसी।

पण्डित श्री यमुनाप्रसाद त्रिपाठी

दण्डक-जनपद

की

विशेषताओं

के

पारखी

दिवङ्गत

पूज्यजनक

श्री यमुनाप्रसाद त्रिपाठी

के

पद-पद्मों में समर्पण

आराध्यदेव !

श्रीमत्प्रतीक्ष्य के सान्निध्य से वञ्चित रहकर आपके इस वत्स ने श्रीमत्स्वान्त-निशान्त-सुवासक यह प्रसून सजाया है। काश ! यदि आप इहलोक में होते तो मैं अपने मस्तक पर आशीर्द-हस्त का स्पर्शानुभव करता। अन्ततः आशान्वित हूँ कि परलोकस्थ भी वरिवस्य आप, मेरा यह प्रस्तुत उपहार अङ्गीकृत करेंगे।

इति
विनयावनत
वागीश शास्त्री

महाशिवरात्रि २०२१
के० २३/६ दूधविनायक
वाराणसी १.

प्रकाशकीय

सौभाग्य से हमें डॉ० वागीश जी का 'बुन्देलखण्ड की प्राचीनता' नामक ग्रन्थ प्रकाशित करने का शुभावसर उपलब्ध हुआ है। हम उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं—

जन्म : मध्यप्रदेश के सागर जिले के विलइया ग्राम में, संवत् १९९१ आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी सोमवार। **शिक्षा और कार्य :** सन् १९५३ में हाई स्कूल; सन् १९५४ में नव्य व्याकरण मध्यमा (इतिहास-भूगोल के साथ), विशेष योग्यता के कारण शास्त्री में प्रान्तीय छात्रवृत्ति। सन् १९५६ में नव्य-व्याकरण शास्त्री (With English)। सन् १९५७ में साहित्यरत्न। सन् १९५९ ई० में व्याकरणाचार्य और उसी वर्ष वाराणसी के टीकमाणी संस्कृत कालेज में व्याकरण के प्रधानाध्यापक नियुक्त। सन् १९६४ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के निर्देशन में 'पाणिनीय धातु-पाठ-समीक्षा' निबन्ध पर विद्यावारिधि (डॉक्टर ऑव फिलॉसफी) की उपाधि प्राप्त हुई। संप्रति उक्त विश्वविद्यालय में सीनियर रिसर्च फेलो। **प्रकाशन :** सन् १९५४ ई० से पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध। सन् १९५८ ई० में 'कृषकाणां नाग-पाशः' (रूपक) एवं 'कथासंवर्तिका (कहानी-संग्रह) बालोपयोगी साहित्य। **उपनाम :** लेखन-क्षेत्र के लिए अपने नाम का सार रूप में संक्षिप्तीकरण—भा= प्रतिभा रूप गी [गिर् (रो रि—रलोप, ढ्रलोपे—दीर्घ)]=वाक् है; रथ= रमण-साधन; जिसका ऐसा वह—'वागीश'। नाम का अन्त्य पद है—त्रिपाठी= तीन वेदों (या शास्त्रों) का पाठ करने वाला। इसके स्थान पर पर्यायवाचित्वेन उपयुक्त बैठने वाला शब्द है—'शास्त्री'। इस प्रकार 'भागीरथ त्रिपाठी' का सारांश हुआ—'वागीश शास्त्री'। संक्षेप-शैली में आद्य और अन्तिम पद गृहीत होते हैं, मध्यम नहीं।

अन्त में जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वे हमें लेखक के दशाधिक ग्रन्थ प्रकाशन की शक्ति प्रदान करें।

मन्त्री

विद्वद्-गोष्ठी, वाराणसी।

डॉ० वागीश शास्त्री की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली संग्राह्य ग्रन्थ रचनाएँ

१—बुन्देली कोश
२—लोक-विज्ञान
३—वागीश-निबन्धावली (हिन्दी)
४—क्रिया-वाचक धातु और अर्थ-विज्ञान
५—रघुवंश का द्वितीय सर्ग और पद्मपुराण
६—टालस्टाय-सप्तकथाः (संस्कृत)
७—किंवदन्ती (संस्कृत-कथासंग्रह)
८—संस्कृत की विकसनशीलता
९—सुगेहिनी (संस्कृत-आख्यायिका)
१०—तीन मास में संस्कृत सीखिए

११—वागीश बीज-वृक्ष (संस्कृत-हिन्दी)

[प्रथम खण्ड]

कवि, लेखक, उपदेशक, अध्यापक तथा जिज्ञासुओं के लिए महोपकारक। जिस प्रकार एक लघु बीज से विशाल वटवृक्ष का उद्भव होता है उसी प्रकार इस ग्रन्थ में एक धातु से प्रसूत प्रभूत शब्द-राशि निदर्शित की गयी है। उदाहरणतः $\sqrt{}$धा (डुधाञ्) धातु से चवालीस हजार शब्द व्युत्पन्न किये गये हैं। कुछ युक्तियों के समझ लेने पर प्रत्येक पाठक एक धातु से हजारों शब्दों का निर्माण कर सकेगा।

बुन्देलखण्ड की प्राचीनता

की

अन्वयिका

आत्मनिवेदन

विगत पाँच वर्षों से क्रियावाचक धातुओं पर अनुशीलन करते समय हमें यह अनुभव हुआ कि बिना प्रादेशिक भाषाओं के कोशों की तैयारी के, संस्कृत के अप्राप्त वाङ्मय का पता नहीं लगाया जा सकता। 'भारत की बहुसंख्यक प्रादेशिक भाषाओं के कोश कैसे बनाये जा सकें'—विचार करते-करते मन में आया—'क्यों न बुन्देलखण्डी कोश तैयार कर लिया जाए!' बुन्देलखण्डी भाषा मेरी मातृभाषा है। अतः चिन्तन-मनन करके शब्द लिखना प्रारम्भ कर दिया। उस समय थीसिस का कार्य समाप्त करके छुट्टी पा चुका था। बुन्देलखण्डी साहित्य-विषयक पुस्तकों के अध्ययन की इच्छा जागी। संस्कृत का पुस्तकालय और हिन्दी साहित्य की पुस्तकों की आशा! तीन पुस्तकों को छोड़ चौथी नहीं मिली। वे थीं—१—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, २—बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन और ३—बुन्देलखण्डी का कहावत कोश। पहली दो पुस्तकों के अध्ययन करने पर पता चला कि 'बुन्देलखण्ड' नाम छै सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं।

इससे पूर्व इस नामकरण के संबन्ध में हमारा कभी ध्यान भी नहीं गया था। हमने यह समस्या अज्ञात मन के संमुख रख दी कि इसका सही हल खोज कर निकाल दे। उसने दो दिन पश्चात् सुझाया कि उत्तराखण्ड, रेवाखण्ड और काशीखण्ड के समान इसे भी तभी का कोई खण्ड होना चाहिए। फिर क्या था, इतना संकेत पर्याप्त हुआ। हम १९६३ दिसम्बर से भारतीय इतिहास-भूगोल के पर्यालोडन में जुट गये। महाभारत में भीम-सहदेव के दिग्विजय-वर्णन पर मनन करते समय दक्षिणापथ का 'पुलिन्द देश' आकर्षक लगा। हम ने फिर अज्ञात मन का सहारा लिया और उसने बताया कि इसी शब्द पर अनुशीलन करना चाहिए। डॉ॰ अग्रवाल जी के 'मार्कण्डेय पुराण: एक अध्ययन' ने पुलिन्द देश के विषय में मौनावलम्बन कर रखा था[1]। हमने यथोपलब्ध सामग्री पर यथामति निदिध्यासन किया और उसका परिणाम आपके पाणिपुटों में निवेदित है।

---

१. पुलिंद, विंध्यमौलेय (पाठान्तर—विंध्यमालेय या विंध्यमूलीक, विंध्याचल के दक्षिणी-पूर्वी जंगलों में रहने वाले)—१५१ पृष्ठ। पुलिन्द (पाठान्तर—पुलेय)—१५२ पृष्ठ।

इसी बीच, एप्रिल १९६४ में बुन्देलखण्डी कोश के लिए शब्दों का क्रियमाण संग्रह समाप्त हो गया। अतः उनकी व्युत्पत्ति के कार्य में जुट जाना पड़ा। कुछ शब्द हमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगे और हमने उन पर लघु निबन्ध लिखने का उपक्रम बाँध लिया। तीनों कार्य लगभग १९६४ जून के अन्त में समाप्त हो गये। किसी बात का आग्रह न रखते हुए, केवल उपलब्ध सामग्री के आधार पर, प्रस्तुत अनुशीलन को संक्षिप्त रूप में शृङ्खलाबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

'समराइच्च-कहा' में अट्ठारह लिपियों का नामोल्लेख मिलता है। उनमें एक नाम बोलिन्दी लिपि का भी विद्यमान है। बचपन में पूज्य पिता जी के श्रीमुख से कभी यह शब्द सुना-सा मालूम पड़ा। मुझे स्मरण आया कि एतत्संबन्धी चार हस्तलेख अब भी सुरक्षित हैं। उन्हें हमारे घर में ढेरा नाम से संबोधित किया जाता है। वे हमारे वंश में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हुए पूर्वपुरुषों द्वारा लिखे गये हैं। हमने स्वयं सन् १९५०—५३ ई० की अवधि में उन 'ढेरा' हस्तलेखों का पर्यालोडन किया है। वे बुलिन्दी लिपि और वहाँ की वर्तमान भाषा में लिखे गये हैं। उक्त लिपि का व्यवहार हमारे पिता जी तक होता रहा। हमारे नाम भेजे गये उनके समस्त पत्र सुरक्षित हैं। समय आने पर उन्हें प्रकाशित किया जा सकेगा। ध्यानीय है कि उक्त लिपि यद्यपि नागरी लिपि से विसंवाद नहीं रखती तथापि उसमें विद्यमान महत्त्वपूर्ण हेरफेर उसकी विशेषता व्यक्त करते हैं। इन प्रादेशिक विशेषताओं के कारण उसका नामकरण प्रदेश के नाम पर हो गया प्रतीत होता है। यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—उस लिपि के 'क' और 'फ' में भेद प्रतीत नहीं होता। इन दोनों में भेद दिखलाने के लिए बीच में नहीं छोर पर एक हलन्त-जैसा चिह्न लगा लगा दिया जाता है। चिह्नाङ्कित वह 'फ्' अक्षर 'फ' माना जाता है। इस प्रकार इसके कुछ वर्ण गुजराती लिपि से साम्य रखते हैं।

भौगोलिक अध्ययन करने के लिए पुस्तकीय ज्ञान पूर्णतया उपयोगी नहीं ठहरता। उसकी पूर्णता वहाँ के भूभाग का घनिष्ठ परिचय माँगती है। अतः जिस प्रदेश का भूगोल-इतिहास लिखना अभीप्सित होता है; इतिहासकार उन उन स्थलों का पर्यवेक्षण कर लेते हैं। बाल्यावस्था से ही मेरा प्रकृति के प्रति अधिक लगाव रहा। सौभाग्यवश पाँच वर्ष की अवस्था में घर से दूर रहने का अवसर भी मिल गया। फलतः निरन्तर आठ वर्षों तक बुन्देलखण्ड की (विशेषतः सागर जिले की) चप्पा-चप्पा भूमि से परिचय हो गया।

यद्यपि सन् १९४८ में बुन्देलखण्ड छोड़ देना पड़ा तथापि ग्रीष्मकाल भर

वहाँ रहकर वहाँ की प्राकृतिक शोभा, ऐतिहासिक स्थानों के भग्नावशेषों और जातियों के नामकरण की संस्कृत व्युत्पत्तियों में रमा रहना विशेष प्रिय था। भीलोन, राहतगढ़, पिठौरिया, दलपतपुर, एरण, बड़ोह, पठारी, त्योंदा, उदयपुर (का देहरा) आदि हमारी जन्मभूमि के आसपास अवस्थित हैं। झाँसी में संबन्धी श्री नाथूराम चौबे के घर हमारे परिवार के एक-दो सदस्य सदा रहते आये हैं; उनकी शिक्षा-दीक्षा भी वहाँ होती रही है। मुझे भी वहाँ रहने का अवसर मिला और मैंने आसपास की अरण्यानियों (ब्रह्मबाला, बरुआसागर, ओरछा आदि स्थानों) में पर्यटन करके उसका उपयोग रूप लाभ उठा लिया। सन् १९५९ के ग्रीष्मावकाश में छतरपूर, खजुराहो, पन्ना, नागौद और सतना के निकटवर्ती क्षेत्रों में भ्रमण करके वहाँ की विशेषताओं का अध्ययन किया।

बुन्देलखण्ड में बिखरी जातियों और रीति-रिवाजों के मूल को खोजने की जिज्ञासा बचपन से ही मन में घर कर गयी थी। कोई मार्गदर्शक नहीं मिला फिर भी मुझे नैराश्य ने नहीं घेरा। मन में उठे हुए वे प्रश्न अज्ञात मन के किसी कोने में पड़े रहे। सन् १९६३ ई० मे बुन्देलखण्ड के प्रकृत अध्ययन के अवसर पर वेद, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और पुराणों के अथाह समुद्र में गोता लगाते समय वे मेरे पूर्वसंस्कार सहायक के रूप में एक एक करके सामने आ खड़े हुए। अतः मेरा यह अवगाहन स्वान्तःसुखाय सिद्ध हुआ।

शबर या शवर

महाभारत और पुराण आदि साहित्य में 'शबर' तथा 'शवर' दोनों प्रकार के पाठ मिलते हैं। 'शबर' पाठ आधिक्यतः दृष्टिगोचर होता है। वैयाकरण इसे गत्यर्थक √शव् (शव) धातु से 'अर' प्रत्यय या 'शवं राति' व्युत्पत्ति दिखाकर 'क' प्रत्यय करते हैं। वस्तुतः व्युत्पत्ति द्वारा कसकर इसका संस्कृतीकरण किया गया है। शम्बर और शम्वर में भी इसी प्रकार का द्वैविध्य है। सर्वत्र पाठ मिलता है—'शम्बर'; पर व्युत्पत्ति करते समय वैयाकरण बना देते हैं इसे—'शम्वर'।

राउत अथवा रावत

लोग राउत और रावत दोनों शब्दों को जाति-विशेषण समझते रहे हैं। मैं भी यह पहेली हल नहीं कर पा रहा था। इसे हल न कर सकने का मुख्य कारण था—दो असमान जातियों के साथ उक्त शब्दों का जुड़ना। अजयगढ़ और गुजरात के शिलालेख पढ़ने पर समाधान मिल गया। राउत या रावत

'राजपुत्र' शब्द का विकसित रूप है। शबरों (>सौंरों) के साथ इस विशेषण का लगना बतलाता है कि चन्देलों से बहुत पहले बुन्देलखण्ड या उड़ीसा में शबरों का राज्य था। या तो वे पढ़े-लिखे नहीं थे या फिर उनके राज्यकाल में शिलालेखों का प्रचलन नहीं था। वस्तुतः विजयस्तम्भ आदि पर लेख विजेताओं द्वारा खुदवाये गये। मूल-निवासियों ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। विजित प्रदेशों में बस जाने पर भी विजेताओं की पीढ़ियाँ मन्दिर आदि बनवाकर इस प्रकार के कार्य कराती रही हैं। इन सब कार्यों के मूल में जनता के हृदय से अपनी विदेशिता को निकालने की भावना विद्यमान रही है। मूल-निवासियों में शिला-लेख आदि खुदवाने की भावनाओं के न रहने के कारण ही भारत का बहुत सारा इतिहास अन्धकाराच्छन्न रह गया।

राजभाषा संस्कृत और जनभाषाएँ

कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका इतिहास अप्राप्त है। इसका कारण है—संस्कृत का राजभाषा पद पर आसीन रहना। ग्रन्थ या शिलालेख आदि का राजभाषा में लिखा जाना या उत्कीर्ण होना स्वाभाविक है। ऐसा होने पर भी दूसरी ओर पहाड़ी नदी की भाँति वेगवती, शोर मचाती हुई और क्रमशः गम्भीर जनभाषा की प्राकृतिक अविरल गति मोड़ने-रोकने से नहीं मुड़ती, नहीं रुकती। जनभाषा के ढले (विकसित) शब्द ग्रन्थों तथा शिलालेखों में (यदि वे संस्कृत में लिखे गये तो) नहीं आ पाते। इसी कारण वे पुलिन्द, यक्ष (>याख [Sir Athelstane Baines : Ethnography, P. 165] जाति [हिमालय]) दण्डक (दाँगियों) आदि जनभाषा के शब्दों में प्रायः उत्कीर्ण नहीं हुए। अतः बुन्देल शब्द की विकास-शृङ्खला टूट गयी; किन्तु महत्त्वपूर्ण शब्द (राजा का नाम या विशेषण आदि) छूट भी नहीं पाते। वाक्पति के दो पुत्र थे—जयशक्ति और विजयशक्ति। माताएँ प्यार में उन्हें क्रमशः जेजाक, जेजा और विज्जाक, वीजा कहने लगी थीं। जनभाषा में प्रचलित उक्त नाम किसी-किसी शिलालेख में भी उत्कीर्ण मिलते हैं। आधिक्येन जयशक्ति और विजयशक्ति को ही उत्कीर्ण करने का प्रयत्न किया गया है; पर 'जेजाकभुक्ति' का अर्थ बतलाने के प्रसंग में जनभाषा में व्यवहृत उन शब्दों का उल्लेख विवश होकर करना ही पड़ा।

पुलिन्दों का वर्ण (रङ्ग)

शबर (>सौंर) और भील जातियाँ कृष्णवर्ण या श्यामवर्ण होती हैं। यद्यपि पुलिन्दों की पहिचान के लिए इस प्रकार का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं

मिलता तथापि उनका हिमालय[1] से संबन्ध उन्हें गौरवर्ण बतलाता है। वाल्मीकीय रामायण (किष्किन्धाकाण्ड) में किरात हेमवर्ण और प्रियदर्शन कहे गये हैं—

किरातास्तीक्ष्णचूडाश्च हेमाभाः प्रियदर्शनाः ॥ ४०।२७ ।

पुलिन्दों का अभिजन या निवास

हमें इस पुस्तिका में पुलिन्द (>बुन्देल) तथा उसके पार्श्ववर्ती देशों के समग्र इतिहास का वर्णन अभिप्रेत नहीं है। यहाँ (आधुनिक बुन्देलखण्ड में) चेदि, मौर्य, शुङ्ग, वाकाटक (भारशिव, नाग), गुप्त, हूण, हर्षवर्द्धन, कल्चुरि, चन्देल, अफगान, मुगल, गोंड़ और अन्त में बुन्देलों का राज्य रहा है। प्रयत्न करने पर भी पुलिन्दों के राजवंश का क्रमिक इतिहास ज्ञात न हो सका। हमारा प्रयत्न तो यहाँ पुलिन्द-देश के स्थान को पहचनवा देना भर रहा है। वेद, पुराण, अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्र-लेखों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मुख्य बुन्देल (खण्ड) सुपुरातन पुलिन्द (देश) है। वैदिक काल से लेकर वनस्फर (ई० प्रथम शताब्दी) तक पुलिन्दों के उत्थान-पतन का उल्लेख मिलता है। इसके भी बाद त्रैलोक्यवर्मा के समय बारहवीं शताब्दी में आनन्दवर्मा द्वारा इन पर विजय प्राप्त किये जाने का (अजयगढ़) शिलालेख में उल्लेख हुआ है। यह शिलालेख भोजवर्मा के शासन (१३०९ ई० के आसपास) में लिखा गया था। आश्चर्य है कि इस जाति की पहिचान जनता और इतिहास-वेत्ताओं ने इकदम कैसे भुला दी। आज से छै सौ वर्ष पहले पुलिन्दों का नाम शिलालेख में उत्कीर्ण कराया जाए और आज हम लोग उन्हें न पहिचानें ! इतिहासज्ञों का कथन है कि 'बुन्देलखण्ड' यह नामकरण छै सौ वर्षों से पुराना नहीं है। जंगली आग की भाँति यह 'बुन्देल' नाम इतनी तीव्रता से फैला कि लोगों को इसके संबन्ध में सोचने-विचारने का अवसर ही नहीं मिल पाया।

---

१. ब्रह्मा देश की सेना का अध्यक्ष 'महाबुन्देला' था (द्र० डॉ० ईश्वरी-प्रसाद : भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय भाग, १३६ पृष्ठ)।

'बर्मा : ए हैण्डबुक ऑव् प्रैक्टिकल इन्फॉर्मेशन' नामक पुस्तक में सर् जे० गेअर्ग स्कॉट ने उक्त सेनाध्यक्ष के दो नाम लिखे हैं—महाबन्दुल (१८१,१९२ पृष्ठ) तथा महाबुन्दल (१९० पृष्ठ)।

अतः स्यात् बुन्देला नाम ब्रह्मा में भी प्रचलित था। उसकी परम्परा गवेषणीय है।

मननीय है कि 'पुलिन्द' के 'बुन्देल' में परिवर्तित होने के पश्चात् पुलिन्दों की कहीं भी चर्चा नहीं हुई है। वह प्राचीन पुलिन्ददेश और वे पुलिन्द सहसा कहाँ विलीन हो गये !!

सिरपुर के अभिलेखानुसार शवर (>सौंर) उड़ीसा के शासक थे। बुन्देलखण्ड में तो वे धीरे-धीरे आकर बस गये। मूलतः वे उड़ीसा-क्षेत्र के निवासी थे। टालमी के अनुसार फिल्लितै (phyllitai) ताप्ती के किनारों पर रहते थे। वे उत्तर में सतपुड़ा तक फैले थे। उनका दूसरा नाम 'भिल्ल' ग्रीक से संबन्ध रखता है। वे लोग नर्मदा और विन्ध्यश्रृङ्खला तक ही नहीं फैले हैं अपितु दक्षिण और पश्चिम में भी दूर दूर तक बसे हैं। टालमी के समय में वे पूर्व की ओर रहते थे। युली का मन्तव्य है कि टालमी द्वारा स्मृत फिल्लितै और द्रिलो फिल्लितै (Drilo Phyllitai) पुलिन्द थे (द्रष्टव्य—एन्श्यन्ट इण्डिया, डिस्क्राइब्ड वाई टालमी १६८ पृ०)।

वस्तुतः पुलिन्दों को जिसने जहाँ बसा देखा वहीं का लिख दिया। उनका वास्तविक स्थान खोजने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। ए० कनिंघम ने तो पुलिन्दों के मराठा होने तक की संभावना कर डाली (द्रष्टव्य—आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्टस्, १७ खण्ड, १२७ पृ०)। इस प्रकार कल्पना का आश्रय लेकर विद्वानों ने पुलिन्दों की स्थिति बुन्देलखण्ड से पश्चिम में सिद्ध की थी। एतद्विषयक हमारा अध्ययन आपके संमुख है।

महाशिवरात्रि वि० सं० २०२१
मार्च १९६५
वाराणसी।

विदुषामाश्रवः
वागीश शास्त्री

बुन्देलखण्ड की प्राचीनता

: भाषावैज्ञानिक ऐतिहासिक एवं भौगोलिक अनुशीलन :

धारणाएँ और मत-मतान्तर

'बुन्देलखण्ड' नामकरण के संबन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाओं का आश्रय लिया जाता है। विचारकों के अनुसार उक्त नामकरण ५००–६०० वर्षों से अधिक पुराना नहीं जान पड़ता। इसकी व्युत्पत्ति—बूंद (<बिन्दु) लः> बुन्देला + खण्ड = बुन्देलखण्ड बतलायी जाती है[1]। इसके पहले यह देश जिझौति के रूप में प्रख्यात था[2]; पर जिझौति के पूर्व इसकी संज्ञा के विषय में प्रायः सभी इतिहासकारों ने मौनावलम्बन कर रखा है। कुछ इतिहासकार इस प्रदेश के नाम का संबन्ध 'विन्ध्य' से जोड़ते हैं[3]। कुछ लोग 'बुन्देली' को

---

१. इस भूभाग के बुन्देलखण्ड नाम की कल्पना ५००–६०० वर्षों से अधिक पुरानी नहीं जान पड़ती। जनश्रुति तो यह है कि गहरवार-वंशीय काशीश्वर विन्ध्यराज की परम्परा में उत्पन्न हुए हेमकिरन ने (जिनको इतिहासकारों ने वीर पञ्चम के नाम से अभिहित किया है) भाइयों द्वारा छीने हुए अपने राज्य की प्राप्ति के लिए 'विन्ध्यवासिनी' (अनार्यों की प्रसिद्ध देवी, देखिए 'गउडवहो'—श्लोकसंख्या २८५–३८७) को प्रसन्न किया। आत्मोत्सर्ग के लिए उठी हुई करवाल की एक खरोंच मस्तक में लग गयी और रुधिर का एक सबल बिन्दु पृथिवी पर जा गिरा। फलस्वरूप वीर पञ्चम की सन्तति 'बुंदेला' क्षत्रिय [बूँद <(सं० बिन्दु) के प्रभाव से राज्य-प्राप्ति] के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी जनश्रुति का आधार लेकर छत्रसाल के राजकवि गोरेलाल (उपनाम 'लाल') ने 'छत्र-प्रकाश' में बुंदेला नाम की कल्पना की है।

डॉ० रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल : बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ ३

2. From these accounts of Abu Rihān and Ibn Batuta it is evident that the province of Jajhoti (जझौति) corresponded with the modern district of Bundel Khand (बुन्देलखण्ड).

A. Cunningham : The Ancient Geography of India, p. 481

३. अलबत्ता ऐसा हो सकता है कि इनके पूर्वपुरुषों ने विन्ध्यवासिनी देवी की उपासना की हो। इसी से 'बुंदेला' नाम विन्ध्य से बहुत कुछ संबन्ध रखता है।

गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ३

विन्ध्य से संपर्क रखने के कारण *विन्ध्येले > *विन्देले > बुन्देले कहलाये।

'व्रजवुलि' से विकसित मानते हैं[१]।

राजकवि श्री गोरेलाल कृत, वूँद से बुंदेला की कल्पना उस समय की थी जिस समय क्षत्रियों को उकसाने के हेतु यह वतलाना आवश्यक था कि उनके मूल में ही आत्मोत्सर्ग की भावना संनिहित है। इसके अतिरिक्त यह व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक महत्त्व नहीं रखती।

'विन्ध्य' शब्द से 'बुन्देल' की व्युत्पत्ति भी भाषावैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए ठोस इतिहास की आवश्यकता होती है। प्रस्तुत (विन्ध्येल>बुंदेल) व्युत्पत्ति में इतिहासाश्रय की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्त्व दिया गया है। ऐतिहासिक शृङ्खला जोड़ने में 'बुन्देल' शब्द से उपादेय निष्कर्ष निकलता है जिसका प्रसङ्गानुसार उल्लेख किया जाएगा।

इतिहास का आश्रय लिये विना भी यदि केवल ध्वनि-विकार के नियमों द्वारा परीक्षण किया जाए तो भी उपर्युक्त व्युत्पत्ति असंगत ठहरती है। विन्दु के विकसित रूप वुंद के सादृश्य पर विन्ध्य से भी वुंद की कल्पना की गयी है। इस कल्पना में दो दोष आते हैं। १—विन्दु के अन्तिम स्वर 'उ' का श्रवण आदि में होने से वुंद होता है। विन्ध्य शब्द में अन्तिम स्वर उकार नहीं है। २—प्राकृत भाषा में 'ध्य' संयुक्त वर्ण का विकास 'झ' होता है। यथा—विन्ध्य>विञ्झ (गउडवहो ३३८), वन्ध्या>वंझा (पउम २६,८३), >बाँझ (हिन्दी), सन्ध्या>संझा (कुमा०, गउड, महा)>साँझ (हिन्दी), ध्यान>झाण (आव ४; ठा ४, १), साध्य>सज्झ (सुर ८,२६), आदि। यद्यपि ईकार के स्थान पर उ>ओ का होना देखा गया है—वीजयन्त:>वोज्जंत (कुमा), तथापि द्वितीय दोप के विद्यमान रहने के कारण यह युक्ति साधक नहीं होगी। आधुनिक काल में 'विन्ध्येश्वरी'-गत धकार का दकार रूप में 'विन्देसरी' विकास पाया जाता है पर उस काल के वीजासन (<विन्ध्यासन देवी)-गत धकार का नहीं। (द्र० आर्कियालॉजिकल सर्वे, खण्ड ९, पृ० १२४।

'विन्ध्य' से संपर्क रखने के कारण यदि इस प्रदेश का नाम वुंदेलखण्ड पड़ा

अतः स्पष्ट है कि बुंदेला नाम विन्ध्य से बहुत कुछ संबन्ध रखता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि 'बुंदेलखण्ड' परवर्ती है और बुंदेला जाति के राज्य-विस्तार के आधार पर कल्पित किया गया है।

डॉ० रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल : बुंदेली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ ३.

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग ४७, सं० २, पृष्ठ १२२.

होता तो इस क्षेत्र को बहुत विस्तीर्ण होना चाहिए था। विन्ध्य पर्वत का विस्तार (उसका अगस्त्य को साष्टाङ्ग प्रणाम करने के कारण फैलना) सुविख्यात है। फिर वघेलखंड के भी वुंदेलखण्ड के नाम से प्रसिद्ध होने में कोई विरोधी कारण उपस्थित नहीं है। बघेलखण्ड[1] का भूतपूर्व नामकरण वुंदेलखण्ड अवश्य मिलता; पर ऐसा पाया नहीं जाता। अतः यह व्युत्पत्ति रायता को राजितक्र (राजि-संस्कृतं तक्रम्—मध्यमपदलोपी समास) से व्युत्पन्न न मानकर राज्यक्ता से तथा पुंगी (=बाँसुरी) को पुंगा (< पुङ्गव) से व्युत्पन्न मानने के समान भ्रामक है।

'बघेल' शब्द के सादृश्य पर 'विन्ध्य' से एल + वुंदेल की कल्पना भी संगत नहीं है। बघेल शब्द का मूल व्याघ्रदेव या (रीवाँ स्टेट गजेटियर और टॉड राजस्थान के अनुसार) व्याघ्रपल्ली > वघेला जागीर निर्णीत है। व्याघ्रदेव वि० सं० १२९० में कालञ्जर के निकट मड़फा में आया[2] और अरुनोराज का वंश भी १२९०–९९ तक व्याघ्रपल्ली में वसने के कारण वघेल कहलाया। निष्कर्षतः वघेलखण्ड की कल्पना विक्रम सं० तेरहवीं शताब्दी के अन्त तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से पूर्व की नहीं है। बुन्देलखण्ड शब्द की प्रसिद्धि का समय हेमकिरन (पञ्चमसिंह) के राज्यकाल के आस-पास है। पञ्चमसिंह की स्थिति वि० सं० ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त तथा राज्य वारहवीं शताब्दी का आदि काल माना जाता है[3]। फलतः वुंदेलखण्ड नामकरण वघेलखण्ड से एक

---

१. नन्दलाल दे ने अपने (The Geographical Dictionary of Ancient And Mediæval India) ग्रन्थ में पुराणों के अनुसार बघेल-खण्ड (रेवाखण्ड) का पूर्ववर्ती नाम 'कारुष' बतलाया है।

२. बघेलों का कथन है कि वीर धवल के लड़के का नाम व्याघ्रदेव था, पर इतिहास में वीरम मिलता है। यह वीर धवल का ज्येष्ठ पुत्र है। यह वीसल-देव से युद्ध में हार कर आया होगा। टॉड सा० का कथन है कि व्याघ्रदेव वि० सं० १२०७ में आया था। इससे यह कलचुरि राजा नरसिंह देव का समकालीन होता है, पर यह इतिहासों से सिद्ध नहीं होता—वुं० का सं० इ० पृष्ठ ९३.

३. वीर और अरिवर्मा ने हेमकिरन से राज्य छीन लिया। इससे उदास होकर इसने काशी के शनि राजा के पुरोहित गजाधर पण्डित की सम्मति से विन्ध्यवासिनी देवी की आराधना की और वैशाख सुदी १४ संवत् ११०५ (तदनुसार ता० २९।४।१०४८ ई० शुक्रवार को वरदान पाया। परन्तु युद्ध में यह भाइयो से हार गया। इसलिए इसने फिर भगवती की पूजा की जिससे

शताब्दी पूर्ववर्ती है। अतः बघेलखण्ड शब्द के सादृश्य पर बुन्देलखण्ड के अभिधान का प्रश्न ही नहीं उठता। परिणामतः 'बुंदेल' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रयत्न-पूर्वक ऐतिहासिक पर्यालोडन अपेक्षणीय है।

श्री भगवद्दत्त जी ने शिशुपालन्न-वध २।६३ की वल्लभदेव कृत टीका में 'चेद्यो डाहलदेशाः' अर्थ देखकर लिखा है[1]—'वर्तमान बुन्देलखण्ड पुराना चेदि जनपद था। 'क्या डाहल का रूपान्तर बुन्देल है ?' भगवद्दत्त जी भी बुन्देलखण्ड को अर्वाचीन मानते हैं। अतः उन्होंने उसका मूल 'डाहल' शब्द में खोजने का प्रयत्न किया है। उनका अभिप्राय शब्द-विकार से संबन्ध रखता हैं किन्तु यह सर्वथा असंभव है। बुन्देल की व्युत्पत्ति डाहल कथमपि नहीं हो सकती।

पञ्चमसिंह से संबद्ध 'बुन्देला' की जनश्रुति द्वारा इतना ज्ञात होता है कि यह शब्द उक्त व्यक्ति के समय से व्यवहृत हुआ। उत्तराखण्ड, काशीखण्ड, रेवाखण्ड[2] आदि शब्दगत 'खण्ड' के अनुकरण पर 'बुन्देल' शब्द में भी 'खण्ड' जोड़कर 'बुन्देलखण्ड' कर दिया गया। जनश्रुति के किसी न किसी अंश में कोई न कोई तथ्य अवश्य छिपा रहता है। अतएव प्रसिद्धि है—'नह्यमूला जनश्रुतिः'=लोकापवाद बिना किसी आधार के नहीं फैलता। उसके बनने में किसी-न-किसी घटना का हाथ रहता ही है।

पञ्चमसिंह अपने भाइयों से पराजित होकर विन्ध्यवासिनी की शरण में पहुँचे। इससे उनका विन्ध्यवासिनी का भक्त होना प्रकट होता है। 'गउडवहो[3]' के अनुसार 'विन्ध्यवासिनी' व्रात्यों की देवी थी। अतः स्पष्ट है कि उसके आस-पास अनार्य = अशिक्षित लोग रहा करते थे। बुन्देलखण्ड शिक्षा में (अभी तक) अत्यन्त पिछड़ा प्रदेश है। उसमें व्रात्य गोंड़, भील, शबर आदि जातियों का प्रामुख्य

भगवती ने इसे श्रावण सुदी ५ संवत् १११२ (तदनुसार ता० ३१।७।१०५५ ई०) को प्रसन्न होकर "विजयी हो" ऐसा वरदान दिया—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ११६.

१. 'भारतवर्ष का वृहद् इतिहास' (द्वितीय भाग, पृष्ठ १८७)

२. प्राचीन बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड दोनों का नाम। स्कन्दपुराण में इसकी चर्चा हुई है। यह 'विन्ध्यप्रदेश के रूप में भी स्मृत होता रहा है।

३. श्लोक ३०७, ३११–३५३। सिद्धि के लिए देवी-श्मशान में महा-मांस-विक्रय—३२७ श्लोक। शववाहना देवी—३३३ श्लोक।

है। यह जातियाँ देवी की परम भक्त हैं। अब तो वहाँ (और अन्यत्र भी) ब्राह्मणादि समस्त जातियाँ देवी की उपासक हो गयी हैं।

काशी जैसे सुसंस्कृत प्रदेश से गये व्यक्ति का यद्यपि अशिक्षित प्रदेश में संमान पा सकना असंभव नहीं है तथापि उस प्रदेश की खूँख्वार जातियाँ उसे अपने यहाँ प्रश्रय दें यह तर्कसंगत नहीं जँचता; किन्तु पञ्चमसिंह देवी का भक्त होकर गया था। फलतः वहाँ की अशिक्षित जातियों की उस पर श्रद्धा हुई होगी और उसकी राज्यविच्युति की कथा सुनकर भोले वनचरों ने उसे सैन्यसंघटन के रूप में सहायता अवश्य प्रदान की होगी। उस प्रदेश के उस समय चलते हुए नाम में पञ्चमसिंह द्वारा कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ होगा। परिणामतः उक्त प्रदेश (बुन्देलखण्ड) के नाम की कथा पञ्चमसिंह के साथ जुड़ गयी।

'बुन्देल' का मूल—'बोलिन्द'

पञ्चमसिंह के आने से पूर्व इस प्रदेश का नाम था—'बोलिन्द' और इस प्रदेश की लिपि का नाम था—'बोलिन्दी'[1] (ब्राह्मीलिपि का एक भेद)। 'ल' वर्ण का योग वर्णविपर्यय में पुष्कल सहायता देता है। इसका उच्चारण यदि मूल शब्द में वर्णक्रमानुसार पहले हो रहा हो तो विकास (वर्णविपर्यय आदि) होने पर इसका प्रायः अन्त में श्रवण होने लगता है। 'ल' का आनुपूर्वी के अन्त में स्थान पाने का प्रमुख कारण इसकी श्रुतिमाधुरी है। उदाहरणतः 'लक्ष्मणपुर' शब्द में से 'म्' 'प्' तथा 'र' के घिस जाने पर शेष रह गया—'लक्षणउ' (क्ष > ख, ण > न) > लखनऊ। आज अधिकांश लोग इस लखनऊ के 'ल' को 'न' के स्थान पर और 'न' को 'ल' के स्थान पर रखकर नखलऊ बोलते हैं। यह कार्य जानबूझ कर नहीं किया जाता किन्तु मुखसुखार्थ 'ल', का उच्चारण परवर्ती 'न' के स्थान पर स्वभावतः ही हो जाता है। इसका कारण, मुख में 'न' बोलने के लिए जीभ नीचे (दाँतों) की ओर लगानी पड़ती है जबकि 'ल' उच्चारण-प्रसङ्ग में उसे ऊपर (मूर्धा) की ओर ले जाना पड़ता है। नीचे सोयी हुई जीभ को ऊपर ले जाकर पुनः नीचे लाने की अपेक्षा नीचे से होते हुए ऊपर की ओर ले जाने में सुविधा होती है। इस प्रकार का उच्चारण सर्वसाधारण (अशिक्षित) जनों के द्वारा अधिक होता है। (भाषा-विकास में यही लोग मुख्यतः सहायक होते हैं।) इसी प्रकार बच्चे जलेबी की जगह जबेली कहने में अधिक आनन्द लेते हैं।

---

१. 'मादेसरीलिवी दामिलिवी बोलिंदीलिवी'—समराइच्चकहा २५।

उपर्युक्त इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा-प्रवाह में 'बोलिन्द्' का 'ल्' अक्षर 'न्द्' के स्थान पर तथा 'न्द्' संयुक्त वर्ण 'ल्' के स्थान पर चला गया। फलतः 'बोलिन्द्' से>बोन्दिल और 'ओ' का संकोच 'उ' एवं 'इ' का विकास 'ए' हो गया—बुन्देल। आगे की ओर जोर लगाते समय पीछे की ओर संकोच का हो जाना स्वाभाविक है। सिंह जब लम्बी छलाँग लगाता है तब उससे पूर्व पीछे की ओर अवश्य सिकुड़ता है। इसी स्वाभाविकता के अनुसार लोग आधार को अधार बोलने लगे हैं। धकारोत्तरवर्ती आकार पर जोर देने से पहले आदि का आकार स्वभावतः अकार बन जाता है; और अधिक बुद्धिमत्ता दिखाने वाले बुद्धिमान् लोग इसी प्रवृत्ति के स्खालित्य को ध्यान में रखकर 'अधीन' को 'आधीन' बना डालते हैं।

विदेशी व्यक्ति किसी देशी शब्द का उच्चारण कुछ भिन्न प्रकार से करता है। भाषाओं के विकास में जाति-मिश्रण एवं युद्ध अधिकाधिक सहायक होते हैं। पञ्चमसिंह बुन्देलखण्ड की आदिवासी जाति के लिए विजातीय होते हुए भी शक्ति-उपासना के कारण आदरणीय थे। बुन्देलखण्ड में इस समय भी स्थान-स्थान पर पञ्चमसिंह के पूजापीठ बने हैं। उन्हें ठाकुरबाबा के नाम से संबोधित किया जाता है। उनकी प्रीति के निमित्त मिट्टी के जीन-कसे घोड़े तथा चिलमें उन चबूतरों पर रखी जाती हैं। वहाँ की भोली जनता का कथन है कि वह अब भी लोगों को अश्वारूढ़ दिखायी पड़ते हैं। जिस ओझा के सिर पर वह आते हैं उसे घोल्लाँ (<घोटकः) कहा जाता है। निष्कर्षतः उनका क्रान्तिकारी रूप में आना 'बोलिन्द' के बुन्देलरूपेण विकास में सुतराम् सहायक सिद्ध हुआ। एक बिन्दु=अवयव रूप व्यक्ति से बुन्देला=बोन्दिल जाति की संघटन रूपी उत्पत्ति होने में तात्पर्य बोधनीय है।

बुन्देल <'बोलिन्द' का मूल—'पुलिन्द'

पुलिन्द देश का नाम अशोक के राज्य में अविकृत रूप में प्रयुक्त होता रहा। उनके धर्मलेखों में से त्रयोदश शहवाजगढ़ी शिलालेख[1] में पुलिन्द देश का नाम आया है। कालिदास ने भी रघुवंश १६।१६ और १६।३२ में पुलिन्द जाति का उल्लेख किया है पर वह व्यावहारिक दृष्टि से अशोक के शिलालेख जितना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अशोक के अनन्तर गुप्तकाल तक इसका छिटपुट प्रयोग मिला है। तदनन्तर छै सौ वर्षो (५०० ई० से ११०० ई०) में उक्त शब्द विकास को प्राप्त हुआ। यही समय भाषाओं (प्राकृत-अपभ्रंश-हिन्दी) के विकास के सूत्रपात तथा संवर्द्धन का आधार है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र के ज्येष्ठ पचास पुत्रों ने शुनःशेप को अपने बड़े भाई के रूप में स्वीकार नहीं किया था। अतः रुष्ट विश्वामित्र से अभिशप्त वे सब अन्ध्र पुण्ड्र शबर **पुलिन्द** और मूतिब नामक दस्यु (=शत्रु अथवा म्लेच्छ) हो गये[2]। वेद के इस प्रमाण से सिद्ध है कि **पुलिन्द** जाति अति पुरातन संस्कारहीन क्षत्रिय (जाति) थी। यह पूर्व में सिलहट तथा कामरूप से उत्तर की ओर बिखर गयी (तारातन्त्र)। नन्दलाल दे के अनुसार इसकी 'पोदस्' नामक एक शाखा बंगाल में रहती थी[3]। वस्तुतः वह शाखा पौण्ड्र जाति की है पुलिन्द की नहीं। 'पौण्ड्राः' का अपभ्रंश **पोदा** हो गया है।

---

१. भोजपितिनिकेपु अंध्र-पुलिंदेपु सवत्र देवनं प्रियस ध्रमनुशस्ति अनुवटंति (संस्कृत—भोजपितिनिकेपु आन्ध्रपुलिन्देषु सर्वत्र देवानां प्रियस्य धर्मानुशिष्टिम् अनुवर्तन्ते)—जनार्दनभट्ट एम्० ए० : अशोक के धर्मलेख, पृष्ठ २६०। पुलि[दे]पु—Epigraphia Indica, Vol. II, p. 463.

२. 'तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत् कनीयांस इति। तद् ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे।ताननुव्याजहारान्तान् वः प्रजान् भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा इति'—ऐब्रा. ७।१८.

३. Nundo Lal Dey : The Geographical Dictionary of Ancient And Mediæval India.

कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि "विन्ध्याचल भारत की रीढ़ (तु० पंजाबी में 'लक') है। रावण की लङ्का (गोंडवाना ?) कहीं विन्ध्यशिखर पर थी[१]। वहाँ के गोंड आज भी अपने को रावण का वंशज बतलाते हैं। वहाँ के ओरावाँ आज भी अपने को वानरों का वंशज बतलाते हैं। वहाँ हर टीले (शृङ्ग) को 'लङ्का' तथा हर नदी को 'गोदा' कहते हैं। स्वयं रामायण के अनुसार अयोध्या-किष्किन्धा-लङ्का २०० मील का अन्तर था। वराहमिहिर के अनुसार उज्जयिनी और लङ्का एक ही अक्षांश पर स्थित थीं।" जो भी हो, लङ्का की स्थिति अब भी विवादास्पद है और हमारे निबन्ध का विषय नहीं है। इतना तो अवश्य सत्य है कि गोंड़ अपने को पौलस्त्यवंशीय बतलाते हैं। मध्यभारत की यह जाति छत्तीसगढ़ से सागर तक फैली हुई है। यदि गोंड़ों के पौलस्त्यगोत्र की बात सत्य है तो उनके पूर्वज 'पुलस्ति' या 'पुलस्तिन्' के नाम पर उस प्रदेश का नाम पड़ सकता है। पुलस्तिन् (पुलस्तिने—चतुर्थी) का उल्लेख माध्यन्दिनसंहिता १६।४३; तै० सं० ४।५।६।१ तथा काण्वसंहिता १७।७।२ में आया है। यद्यपि भाषा-विज्ञान के अनुसार **पुलस्तिन् > पुलिस्त > पुलिन्द** शब्द का अनुमान लगाया जा सकता है तथापि ऐतिहासिकता के अभाव में इसे प्राधान्य देना अगतिक-गति होगा।

रतलाम से प्राप्त हुए गुप्त संवत् ३२० (सन् ६३६—६४० ई०) के ताम्र-पत्र-अभिलेख में 'पुलिन्दानक' ग्राम[२] की चर्चा की गयी है। आनक का अर्थ होता है—पटह, भेरी, मृदङ्ग तथा गरजता हुआ मेघ। आनक रणप्रियता या रणकेन्द्र की सूचना देता है। उज्जेन से पश्चिम में स्थित रतलाम का समीपवर्ती यह ग्राम संभवतः पुलिन्दों का पश्चिमी सीमा पर स्थित गढ़ था। प्रतीत होता है, वैदिक युग में कालञ्जर से लेकर विदर्भ तक समस्त दक्षिणापथ पुलिन्दों के अधिकार में था। धीरे-धीरे वे अपने मूल स्थान की ओर सिमटते चले गये। उक्त 'पुलिन्दानक' ग्राम बुन्देलखण्ड से कुछ दूर पड़ जाता है। बुन्देलखण्ड जैसी सतत बनी रहने वाली भीषण सामरिक परिस्थितियों का सामना रतलाम को नहीं करना पड़ा।

---

१. द्रष्टव्य—'Ravana And His Tribe'—The Indian Historical Quarterly, Vol. VI, p. 544-548.

२. 'मालवके उच्यमानभुक्तौ...पूर्वतः वराहकोटकग्रामकङ्कटः, द [क्षि]-णतो नदी, अपरतः लक्ष्मणपट्टिका, उत्तरतः पुलिन्दानक-ग्रामकङ्कटः।'

Two Grants of Dhruva Sena II (Epigraphia Indica, vol. VIII, p. 193)

अशान्त युद्धों के वातावरण भाषा में उथल-पुथल मचा देते हैं। अतः शान्त स्थानों के भाषा-विकास की अपेक्षा युद्ध-क्षेत्र का भाषा-विकास अत्यन्त भिन्न होता है। हड़बड़ाया व्यक्ति स्थिरचित्त व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अटपटा बोलेगा। अतः 'पुलिन्दानक' शब्द का विकास 'पुलिन्द' के समान नहीं हुआ। दूसरी बात, वही शब्द यदि कुछ लम्बा हो जाए तो भी विकास भिन्न प्रकार से होगा। पुलिन्दानक (आज ?) रतलाम—क्षेत्र में 'पल्दूना'[1] नाम से प्रसिद्ध है। पकारोत्तरवर्ती उकार उचटकर दकार का सहारा बन गया। पुलिन्द के पकार में कुछ भी विकार नहीं आ पाया।

'पल्दूना' <पुलिन्दानक में केवल 'उ' मात्रा का स्थानान्तर और अन्तिम 'क' वर्ण का लोप हुआ है। 'बुन्देल' <पुलिन्द शब्द में विशेष परिवर्तन हुआ है। इस प्रकार के विकास-वैविध्य विरल[2] नहीं हैं। बुन्देलखण्ड में नंगे पैर के लिए एक शब्द है—उपनए या उपनव (<अ + उपानह्)। इसी शब्द के स्थान पर एक दूसरा विकास भी दर्शनीय है—उबेना (<अ + उपानह्)। द्वितीय विकास में पकार सुरक्षित नहीं रह सका किन्तु बकार में परिवर्तित हो गया। हमारे मतानुसार ई० सातवीं शताब्दी के पुलिन्दानक>पल्दूना-विकास के अनन्तर (कम-से-कम दो सौ वर्ष पश्चात्) पुलिन्द>बुन्देल शब्द विकसित हुआ।

नागोद स्टेट से प्राप्त महाराज हस्ती का दान-पत्र[3] पुलिन्द देश की स्थिति

---

१. The दीवान of Rutlam identified नवग्राम with>नोगावा (नौगाँव, on the Indian Atlas sheet No 36, N. E. [1895]), वराहकोटक with>भारोडा and पुलिन्दानक with>पल्दूना।

Epigraphia Indica, vol. VIII, p. 181

२. बाजपेयी जी>बाँस बेइल।

३. नमो महादेवाय ॥ स्वस्त्यष्टनवत्यु [त्तरेब्दशते गुप्त-नृप-राज्य-भुक्तौ श्री] मति प्रवर्द्धमाने महाश्वयुज-संवत्सरे [माघ मास पक्ष...] मस्यां संवत्सर-मास-दिवसपूर्व्वायां नृ [पति-परिव्राजक-कुलोत्पन्नेन महाराज—] देवाढ्य-प्रनप्त्रा महाराज-श्री-प्रभञ्जन [नप्त्रा महाराज-श्रीदामोदर-सुतेन गो-स—] हस्त्यश्व-हिरण्यानेक-भूमि-प्रदे [न] [गुरु-पितृ-मातृ-पूजा-तत्परेणात्यन्त-देव—] ब्राह्मणभक्तेनानेक-समर-शत-विज [यिना स्ववंशामोदकरेण महा-राज-श्री—] हस्तिना पुलिन्द-राज-राष्ट्रे नवग्रामक (को ?) [नाम ग्रामः पूर्व्वाघाट-परिच्छेद-मर्यादया मोद्र—] कः सोपरिकरोद्रङ्ग-भट-प्रावेश्यो [माता-

के संबन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डाल सकता है। यह दान-पत्र गुप्त संवत् १९८ (२३ अप्रिल, सन् ५१७ ई० के लगभग) में लिखा गया था। प्रदत्त ग्राम का नाम है—**नवग्राम**। एक नवग्राम का उल्लेख रतलाम के निकट पुलिन्दानक ग्राम से दक्षिण की ओर भी मिलता है। महाराज ध्रुवसेन ने गुप्त संवत् ३२० (सन् ६३९—६४० ई०) में इसका दान किया था। रतलाम का नवग्राम नोगावा और अव नौगाँव के रूप में प्रसिद्ध है।

यह सुनिश्चित है कि महाराज हस्ती द्वारा प्रदत्त नवग्राम, रतलाम (मालवा) के महाराज द्वारा प्रदत्त नवग्राम से भिन्न है। इस दान-पत्र की नागोद-स्टेट में प्राप्ति भी इसे रतलाम के नवग्राम से भिन्न वतलाती है। छतरपूर से कुछ दूर उत्तर **नौगाँव** (छावनी) अवस्थित है। महाराज हस्ती (४६५—५१७ ई०) द्वारा प्रदत्त नवग्राम नौगाँव (छावनी) हो सकता है। इस नवग्राम को **पुलिन्द-राज-राष्ट्र** में स्थित वतलाया गया है। खण्डित उक्त पट्टिका के विवरण से सिद्ध होता है कि परिव्राजक (गोस्वामी) वहाँ के शासक थे। छतरपूर और नौगाँव (छावनी) में अनेक गोस्वामी (गुसाईं) परिवार आज भी मिलते हैं जिनके नाम जागीरें लगी हैं। इनके पूर्वजों की समाधियाँ छतरपूर और नौगाँव छावनी में अब तक सुरक्षित हैं। मैं सन् १९६० में छतरपूर गया था। वहाँ के मोटर स्टैण्ड से कुछ उत्तर की ओर स्थित इन समाधियों के संवन्ध में मैंने पूछ-ताछ की थी। प्रकृत गोसाइयों के परिवार के एक युवक ने वतलाया कि "हम लोगों के कुछ अधिकार-पत्र हैं जिन्हें हमारे परिवार का एक व्यक्ति ले गया; और वह जवलपुर (या कानपुर) में रहने लगा है।" मैं उसके साथ उसके घर तक गया। वह युवक सिर पर घास का गट्ठर रखे था और स्वयं को ब्राह्मण वतलाता था। जिन व्यक्तियों को दान दिया गया था वे पराशरगोत्रीय और माध्यन्दिन-शाखीय (शुक्ल-यजुर्वेदीय) ब्राह्मण थे।

पुलिन्द-राज-राष्ट्र में स्थित नौगांव आदि का शासक होने भर से उक्त राजवंश

पित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृद्धये] पराशर-सगोत्रेभ्यो माध्यन्दिन-वाज [* सनेय-सब्रह्मचारिभ्योमीभ्यो] ब्राह्मण-भट्ट-यज्ञाढ्य-स्वामि-तत्पुत्र-भ [*ट्ट...ब्राह्मण...] न-स्वामि-तत्पुत्र-गोपयज्ञ-स्वामि [* ब्राह्मण...यज्ञ-स्वामि-तत्पुत्र—] भट्ट-शम्भु-यज्ञ-स्वामिभट्टेशेन य [* ज्ञ-स्वामिभ्यो (:) पुत्रपौत्रान्वयोपभोग्य] ताम्र-शासनेनाग्रहारोऽतिसृष्ट [* : चौरवर्ज्जम् । तदस्मत्कुलोत्थैर्मत्पाद-पिण्डो—] पजीविभिर्वा कालान्तरेष्वपि न [* व्याघातः करणीयः । एवमाज्ञप्ते यो...]

Epigraphia Indica, Vol. XXI, P. 126.

पुलिन्द जाति से संबद्ध नहीं माना जा सकता। हाँ, इस प्रदेश का पुलिन्द देश होना सुनिश्चित है।

बुन्देलखण्ड के मूलनिवासी और शासक पुलिन्द थे। चन्देल आदि बाद में आये। कनिंघम के ग्रन्थानुसार 'चन्देलों का आदिपुरुष चन्द्रात्रेय चन्द्रमा का पुत्र था। वह काशिराज के पुरोहित की पुत्री हेमावती से उत्पन्न हुआ था। उसने कालञ्जर खजुराहो और महोबा को राजधानी बनाया[1]।' शिलालेखों में चन्द्रात्रेय का उल्लेख मुनि रूप में हुआ है। वह मुनि अत्रि का पौत्र था[2]। इतिहासकारों

---

1. According to the legend the chandelas are sprung from Hemā Devī daughtor of Hema Rāj the Brahman purohit of Indra jit Gahirawār rājā of Benaras. Hemāvatī was very beautiful and one day when she went to bathe in the Rāti Tālāb she was seen and embraced by chandrama, the god of moon. He said your son will be Lord of the earth, your son will be born on the bank of the Karṇavatī river. Then take him to Khajuray. He will possess the phelosopher's stone, and will turn iron into gold. On the hill Kalinjar he will build a fort, named Chandra Varma. The date of this event is about A. D. 800.

A. Cunningham : The Ancient Geography of India, P. 487.

Lastly he went to Mahotsava or Mahoba, which he made his capital. p. 488.

२. मध्ये तेषां प्रहततमसां मानसानां मुनीनां
श्रीमानत्रिः प्रथितमहिमा नेत्रपात्रे प्रसूतम्।
यस्य ज्योतिःपटलजटिलं मण्डलं वन्द्यमिन्दो-
श्चन्द्रात्रेयः समजनि मुनिस्तस्य पुत्रः पवित्रः ॥ ६ ।
कालेनेह महावंशे प्रशंसाप्रांशुरंशुमान्।
मुक्तामणिरिव श्रीमान् नन्नुकोऽभून्महीपतिः ॥ १४ ।
तस्मादुदारकीर्तेरजनि जनानन्दसुन्दरः श्रीमान्।
तनयो विनयनिधानं वाक्पतिरिव वाक्पतिः क्षितिपः ॥ १६ ।

Stone inscription of धंगदेव of the year 1059 (Epigraphia Indica, p. 140)

पाने के हेतु इन्द्र प्रयाग में तपस्या करने के लिए गये। उक्त पुराण में प्रयाग का सुस्पष्ट नाम नहीं लिया गया है। उसके अनुसार वह स्थान कालञ्जर से ठीक उत्तर, हिमालय से ठीक दक्षिण, कुशस्थल से ठीक पूर्व और वसुपुर से ठीक पश्चिम में स्थित था। तपस्या के अन्त में महानदी में स्नान करते समय इन्द्र के हत्या रूप पाप से पुलिन्दों की उत्पत्ति हुई[1]। कुछ विद्वान् वामनपुराण में

---

१. कालञ्जरस्योत्तरतः सुपुण्यस्तथा हिमाद्रेरपि दक्षिणस्थः [स्याम्] ।
कुशस्थलात् पूर्वत एव विश्रुतो वसोः पुरात् पश्चिमतोऽवतस्थे ॥१४॥
पूर्वं गयेन क्षितिपेन यत्र इष्टोऽश्वमेधः शतशः सुदक्षिणः ।
मनुष्यमेधोऽपि सहस्रकृत्वस्तथा पुरा दुर्जयनः सुरारिभिः ॥१५॥
ख्यातो महामेध इति प्रसिद्धो यथाऽस्य चक्रे भगवान् मुरारिः ।
द्वाःस्थत्वमव्यक्ततनुः सुमूर्तिः ख्यातिं जगामाथ गदाधरेति ॥१६॥
यस्मिन् द्विजेन्द्राः श्रुतिशास्त्रवर्जिताः समत्वमायान्ति पितामहेन ।
[मरुत्पितॄन् यत्र च संप्रपूज्य भक्त्या त्वनन्येन हि चेतसैव ॥१७॥]
यस्मिन् भक्त्या पूजयन् ये पितॄन् स्वान् सोऽनन्यभावेन सकृत् तु चेतसा ।
फलं महामेधमखस्य मानवा दधत्यनन्तं भगवत्प्रसादात् ॥१७॥
महानदी यत्र सुरर्षिकन्या जलापदेशाद्धिमशैलमेत्य ।
चक्रे जगत्पापविमुक्तमग्र्याः संदर्शनप्राशनमज्जनेन ॥१८॥
तत्र शक्रः समभ्येत्य महानद्यास्तटेऽद्भुते ।
आराधनाय देवस्य कृत्वाश्रममवस्थितः ॥१९॥
प्रातःस्नायी त्वधःशायी एकभुक्तोऽप्ययाचितः ।
तपस्तेपे सहस्राक्षः स्तुवन् देवं गदाधरम् ॥२०॥
तस्यैवं तप्यतः सम्यक् जितसर्वेन्द्रियस्य तु ।
कामक्रोधविहीनस्य साग्रः संवत्सरो गतः ॥२१॥
ततो गदाधरः प्रीतो वासवं प्राह नारद ।
गच्छ प्रीतोऽस्मि भवतो मुक्तपापोऽसि साम्प्रतम् ॥२२॥
निजं राज्यं च देवेश ! प्राप्स्यसे नचिरादिव ।
यतिष्यामि तथा शक्र ! भावि श्रेयो यथा तव ॥२३॥
इत्येवमुक्तेन गदाधरेण विसर्जितः स्नाति मनोहरायाम् ।
स्नातस्य देवस्य तदैनसो नरास्तं प्रोचुरस्माननुशासयस्व ॥२४॥
प्रोवाच तान् भीषणकर्मकारान् नाम्ना पुलिन्दान् मम पापसंभवाः ।
वसध्वमेवान्तरमद्रिमुख्ययोर्हिमाद्रिकालञ्जरयोः पुलिन्दाः ॥२५॥

वर्णित इस महानदी को बरार के दक्षिण-पूर्वी कोण पर स्थित पर्वतों से उद्भूत उड़ीसा की महानदी[1] से अभिन्न मानते हैं। यह सिहोआ को पार कर बस्तर से गुजरती हुई विलासपुर की दक्षिणी सीमा पर पहुँचती है[2]। फलतः पुलस्त्यवंशी गोंड़ों के निवास गोंड़वाने (छत्तीसगढ़) को पुलिन्ददेश बतलाया जाता है।[3]

उपर्युक्त मत समीचीन नहीं है क्योंकि उड़ीसा-विलासपुर की महानदी कालञ्जर से दक्षिण में पड़ती है। वामनपुराण के अनुसार उसे उत्तर दिशा में होना चाहिए। कालञ्जर से उत्तर में गङ्गा नदी बहती है और उसका एक नाम महानदी भी है[4]। वामनपुराण के अनुसार 'सैकड़ों बार अश्वमेध यज्ञ और

इत्येवमुक्त्वा सुरराट् पुलिन्दान् विमुक्तपापोऽमरसिद्धयक्षैः।
संपूज्यमानोऽनुजगाम चाश्रमं मातुस्तदा धर्मनिवासमीड्यम् ॥२६।
वामनपुराण ७६/१४—२६

१. नदी तत्र महापुण्या विन्ध्यपादविनिर्गता।
चित्रोत्पलेति विख्याता सर्वपापहरा शुभा ॥
चित्रोत्पला महानदी ।
—पुरुषोत्तमक्षेत्रान्तर्गतकटकस्योत्तरदेशस्थनदीविशेषा—शब्दकल्पद्रुम ।

२. The योगिनीतन्त्र mentions it (2, 5, 139–140). The महानदी is the largest river in orissa, which rises from the hills at the south-east corner of Berar. It flows Past sihoa and Passes through बस्तर in the central Provinces. It reaches the southern border of the district of बिलासपुर. It is fed by five tributaries. It follows a south-easterly course and flows Past the town of Cuttack (कटक).

B. C. Law : Historical Geography of Ancient India.

३. रॉबर्ट शेफर 'Ethnography of Ancient India' नामक पुस्तक (पृष्ठ ६२) में पुलिन्दों को गोंडी जाति का बतलाते हैं। १४० पेज पर वह लिखते हैं—'Foreign in Jain literature, where it occures in list with other Dravidian Peoples. Goṇḍi.

४. प्रविवेश त्रिधा प्राच्यां प्लावयन्ती महानदी।
भगीरथरथस्यानुस्रोतसैकेन दक्षिणाम् ॥१२।
तथैव पश्चिमे पादे विपुले सा महानदी।
स्वर (सुच) क्षुरिति विख्याता वैभ्राजं साऽचलं ययौ ॥१३।
शीतोदं च सरस्तस्मात् प्लावयन्ती महानदी।
तस्मात् क्रमेण चाद्रीणां शिखरेषु निपत्य सा ॥१४।

हजारों बार मनुष्यमेध यज्ञ' होने की चर्चा स्पष्टतः प्रयाग का स्मरण दिलाती है। वह कालञ्जर से ठीक उत्तर और हिमालय से ठीक दक्षिण में अवस्थित है।

वामनपुराण की उक्त कथा से सिद्ध होता है कि यह पुलिन्द जाति इन्द्र के साथ हिमालय से आयी थी। पुरन्दर ने प्रयाग में एक वर्ष तक तपस्या की। जब इन्द्र लौटकर त्रिविष्टप जाने लगे तब इन लोगों ने उनसे अपने रहने के लिए पूछा। संभवतः उनका मन विन्ध्याटवी से जाने का नहीं था। इन्द्र ने उन लोगों को 'मम पापसंभवाः'=मेरे पाप से उत्पन्नो! सम्बोधित किया है। इससे दो बातें व्यक्त होती हैं—(१) भ्रूणहत्या के समय ये लोग इन्द्र के सहायक रहे हों या (२) इन्द्र ने अपने तपस्याकाल में प्रयाग के आस-पास शादी कर ली हो[1]। फलतः यह जाति उठ खड़ी हुई हो।

इस जाति के निवास के संबन्ध में भी दो बातें ज्ञात होती हैं—(१) यह (विन्ध्यवन) कालञ्जर के आस-पास[2] फैली थी और (२) हिमालय की उपत्यका में भी रहती थी। द्वितीय के संबन्ध में उल्लेख भर मिलता है; आज उसके अवशेष वहाँ नहीं रहे; पर बुन्देलखण्ड का कालञ्जर तब से अब तक इस जाति के राजाओं का अथवा इस जाति के नाम से ख्यात देश में रहने वाले बुन्देला राजाओं का गढ़ रहा आया है।

गत्वोत्तरां दिशं गङ्गा दिव्या सा च महानदी ॥१६॥
तत्पावयन्ती संप्राप्ता महाभद्रं सरोवरम्।
ततश्च शङ्खकूटं सा प्रयाता वै महानदी ॥१८॥

—मार्कण्डेयपुराण ५६।१२—१८.

'मुरहर! तव विपरीतं पादाम्बुजान्महानदी जाता'—इत्युद्भटः।

१. जननेन्द्रिय को कौपीन भी कहा जाता है और यह पापवाचक है—'कूपपतनमर्हति कौपीनं पापम्। तत्साधनत्वात् तद्वद् गोप्यत्वाद् वा पुरुषलिङ्गमपि'—सिद्धान्तकौमुदी (५।२।२०), पृष्ठ २६५।

२. किं व सल्य-वरोच्चिय सेवा-निंदा-वरो व्व अह मग्गो।
जं महइ विन्झ-वण-गोयराण लोओ पुलिन्दाण ॥ गउडवहो ६४६।
भयलोल-पुलिन्द-वहू-विरिक्क-गुञ्जावली-कण-कराला। गउडवहो ३५२।

पुलिन्द नामक वृक्ष भी होता है—'वरहीण ताण रसियं पुलिन्द-केदार-पविरल-दुमेसु' (छाया-वर्हिणां तेषां रसितं पुलिन्दकेदार—प्रविरलद्रुमेषु)—३४६।

कालञ्जर

उक्त कालञ्जर पर्वत बांदा से तीस मील पूर्व की ओर अवस्थित है। अजयगढ़ से ठीक दक्षिण-पश्चिम में यह बना है। यह पर्वत संसार के नौ ऊखलों में से एक ऊखल माना जाता है[1]। इस पहाड़ पर एक बहुत पुराना किला बना है। प्रसिद्ध इतिहासलेखक फरिश्ता लिखता है कि कालञ्जर का गढ़ केदारनाथ नामक व्यक्ति ने ईसा की प्रथम शताब्दी में बनवाया था। महमूद गजनवी ने सन् १०२२ ई० में इस गढ़ को घेरा था। उस समय यहाँ का राजा नंद (गण्ड) था जिसने एक वर्ष पहले कन्नौज पर चढ़ायी की थी[2]।

मत्स्यपुराण में कालञ्जर को देश[3] तथा (महाकाल शिव) वन[4] बताया गया है। विष्णुपुराण में मेरुपर्वत के मूल में कालञ्जर पर्वत की स्थिति बतायी गयी है। उसके पास शङ्खकूट ऋषभ हंस और नाग नामक पर्वतों की सत्ता वर्णित है[5]। भागवतपुराण में भी विष्णुपुराण की तरह कालञ्जर को मेरु की कर्णिका

---

१. रेणुक-सूकर-काशी-काली-काल-वटेश्वराः ।
कालञ्जर-महाकालावूखला नव कीर्तिताः ॥
—Archæological survey, Vol. XXI, P. 22.

कालञ्जर (hill fort)-Epigraphia Indica, Vol. I, P. 123, 124, 133, 134, 218, 220, 331, and 336.

२. हिन्दीशब्दसागर, 'but his true name was Gaṇd'—Archæological Survey, Vol. XXI, P. 22.

३. 'कालञ्जरान् विकर्णांश्च कुशिकान् स्वर्गभौमकान्'—मत्स्यपुराण १२१।५४

४. 'अमरं च महाकालं तथा कायावरोहणम्'—मत्स्यपुराण १८१।२६
कालञ्जरवनं चैव शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम् ।
एतानि च पवित्राणि सान्निध्यानि मम प्रिये ॥ मत्स्यपुराण १८१।२७

५. मेरोरन्तराङ्गेषु जठरादिष्ववस्थिताः ।
शङ्खकूटोऽथ ऋषभो हंसो नागस्तथापरः ।
कालञ्जराद्याश्च तथा उत्तरे केसराचलाः ॥ विष्णुपुराण २।२।३०
(गीताप्रेस सं० २।२।२६)

में स्थित बताया है[1]। यह कालञ्जर दशार्ण देश से उत्तर-पूर्व में स्थित कालञ्जर से भिन्न है। वायुपुराण के अनुसार दशार्णा के निकट स्थित कालञ्जर में यत्नपूर्वक श्राद्धदान का वर्णन किया गया है[2]। मत्स्यपुराण के अनुसार कालञ्जर पर्वत पर काली का निवास था[3]। ब्रह्माण्डपुराण में भी वायुपुराण की भाँति दशार्णा से पूर्व कालञ्जर का उल्लेख मिलता है[4]।

श्रीमद्भागवत पुराण में भरतचरित वर्णन के प्रसङ्ग में कालञ्जर का निर्देश किया गया है; वहाँ भी वामनपुराण की तरह महानदी के आस-पास कालञ्जर (पर्वत) की सूचना मिलती है। हरिणयोनि में उत्पन्न भरत अपने पूर्वजन्म के वृत्त-अनुस्मरण के कारण संसार से विरक्त हो गये। वे मृगी माता का परित्याग कर कालञ्जर से पुलस्त्य-पुलहाश्रम शालग्राम को लौट आये[5]।

वायुपुराण में वाराणसी के अनन्तर कालञ्जर का आख्यान आया है। यद्यपि उससे पूर्व हिमालय का वर्णन हुआ है तथापि इसे हिमालय पर मानना उपर्युक्त

गीताप्रेस-संस्करण में प्रदत्त 'कालञ्जाद्याश्च तथा' पाठ त्रुटित मालूम पड़ता है। छन्द में एक अक्षर की न्यूनता भी है। वहाँ वस्तुतः 'कालञ्जराद्याश्च तथा' पाठ होना चाहिए था।

१. 'कुरङ्ग-कुरर-कुसुम्भ-वैकङ्क-त्रिकूट-शिशिर-पतङ्ग-रुचक-निषध-शिनीवास-कपिल-शङ्ख-वैदूर्य-जारुधि-हंसर्षभ-नाग-कालञ्जर-नारदादयो विंशतिगिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः'—श्रीमद्भागवत ५।१६।२६

२. कालञ्जरे दशार्णायां नैमिषे कुरुजाङ्गले।
वाराणस्यां नगर्यां तु देयं श्राद्धं तु यत्नतः॥
वायुपुराण ७७।६३ [मनसुखराय मोर सं० ७७।६४]

यहाँ प्रथम 'तु' को 'च' (= और) का वाचक जानना चाहिए।

३. 'रुद्रकोट्यां तु रुद्राणी काली कालञ्जरे गिरौ'—मत्स्यपुराण १३।३२

४. 'कालञ्जरे दशार्णायां नैमिषे कुरुजाङ्गले'—ब्रह्माण्डपुराण ३।१३।१००

५. 'एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेश ॥१॥ इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात् प्रत्याजगाम ॥३०॥

श्रीमद्भागवत ५।८।१—३०

नहीं होगा। यह वही बाँदा के पास का पौलिन्द कालञ्जर है[1]। केवल विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवत को छोड़कर किसी भी पुराण में कालञ्जर हिमालय (मेरु) पर्वत पर अवस्थित नहीं बताया गया है। उक्त दोनों पुराणों में भी वर्णित

---

१. तत्रैव हिमवत्पृष्ठे त्वट्टहासो महागिरिः।
भविष्यति महातेजाः सिद्धचारणसेवितः ॥१६२।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति महौजसः।
युक्तात्मानो महासत्त्वा ध्यानिनो नियतव्रताः ॥१६३।
सुमन्तुर्बर्बरिर्विद्वान् सुबन्धुः कुशिकन्धरः।
प्राप्य माहेश्वरं योगं रुद्रलोकाय ते गताः ॥१६४।
एकविंशे पुनः प्राप्ते परिवर्ते क्रमेण तु।
वाचस्पतिः स्मृतो व्यासो यदा स ऋषिसत्तमः ॥१६५।
तदाप्यहं भविष्यामि दारुको नाम नामतः।
तस्माद् भविष्यते पुण्यं देवदारुवनं महत् ॥१६६।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति महौजसः।
प्लक्षो दाक्षायणिश्चैव केतुमाली वकस्तथा ॥१६७।
योगात्मानो महात्मानो नियता ह्यूर्ध्वरेतसः।
परमं योगमास्थाय रुद्रं प्राप्तास्तदानघाः ॥१६८।
द्वाविंशे परिवर्ते तु व्यासः शुक्लायनो यदा।
तदाप्यहं भविष्यामि वाराणस्यां महामुनिः ॥१६६।
नाम्ना वै लाङ्गली भीमो यत्र देवाः सवासवाः।
द्रक्ष्यन्ति मां कलौ तस्मिन्नवतीर्णं हलायुधम् ॥२००।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति सुधार्मिकाः।
तुल्यार्चिर्मधुपिङ्गाक्षः श्वेतकेतुस्तथैव च ॥२०१।
तेऽपि माहेश्वरं योगं प्राप्य ध्यानपरायणाः।
विरजा ब्रह्मभूयिष्ठा रुद्रलोकाय संस्थिताः ॥२०२।
परिवर्ते त्रयोविंशे तृणविन्दुर्यदा मुनिः।
व्यासो भविष्यति ब्रह्मा तदाहं भविता पुनः।
श्वेतो नाम महाकायो मुनिपुत्रः सुधार्मिकः ॥२०३।
तत्र कालं जरिष्यामि तदा गिरिवरोत्तमे।
तेन कालंजरो नाम भविष्यति स पर्वतः ॥२०४।

—वायुपुराण २३।१६२—२०४

मेरु के कर्णिकाभूत कालञ्जर का तीर्थस्थान के नाम से उल्लेख नहीं किया गया। वायुपुराण के समान लिङ्गपुराण (पूर्वार्द्ध) में भी वाराणसी के अनन्तर कालञ्जर को पर्वतश्रेष्ठ बताया गया है[1]। केवल स्कन्दपुराण में इसे 'पुरुषोत्तम-क्षेत्र' कहा गया है[2]। देवीभागवत के अनुसार काली का स्थान कालञ्जर में बताया गया है[3]।

भारतीय जनता तीर्थस्थानों को कभी नहीं भुलाती। वह गुप्त तीर्थस्थानों का पता लगाकर अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करने लगती है। हिमालय-कर्णिका में विद्यमान कालञ्जर को जनता ने तीर्थस्थान के रूप में कभी नहीं जाना। वह प्रायः शुद्ध पर्वत के रूप में वर्णित मिलता है। बुन्देलखण्ड का कालञ्जर धार्मिक तथा राजनीतिक रूप में बहुचर्चित रहा आया है। यह बाँदा जिला के बदौस डिवीजन में पड़ता है; चन्देलों के समय अनेकों वर्ष बुन्देलखण्ड की राजधानी रहा है। यहाँ गहरवार पड़िहार और चन्देले राज्य करते थे। प्राकृत-पैङ्गल १।१२८ में इसे देशविशेष बताया है।

---

१. तदाप्यहं भविष्यामि वाराणस्यां महामुनिः।
नाम्ना वै लाङ्गली भीमो यत्र देवाः सवासवाः ॥१०४।
द्रक्ष्यन्ति मां कलौ तस्मिन् भवं चैव हलायुधम्।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति सुधार्मिकाः ॥१०५।
भल्लवी मधुपिङ्गश्च श्वेतकेतुः कुशस्तथा।
प्राप्य माहेश्वरं योगं तेऽपि ध्यानपरायणाः ॥१०६।
विमला ब्रह्मभूयिष्ठा रुद्रलोकाय संस्थिताः।
परिवर्ते त्रयोविंशे तृणविन्दुर्यदा मुनिः ॥१०७।
व्यासोऽहं भविता ब्रह्मंस्तदाऽहं भविता पुनः।
श्वेतो नाम महाकायो मुनिपुत्रस्तु धार्मिकः ॥१०८।
तत्र कालं जरिष्यामि तदा गिरिवरोत्तमे।
तेन कालञ्जरो नाम भविष्यति स पर्वतः ॥१०९।
—लिङ्गपुराण (पूर्वार्द्ध) २४।१०४—१०९

२. कालञ्जरं प्रभासश्च तथा वदरिकाश्रमः।
महालयस्तथोङ्कारक्षेत्रं वै पौरुषोत्तमम् ॥ ४।६।२४।

३. वराहशैले तु जया कमला कमलालये।
रुद्राणी रुद्रकोट्यां तु काली कालञ्जरे तथा ॥ उत्तरार्ध ३०।६२।
कुरण्डले त्रिसन्ध्या स्यान्माकोटे मुकुटेश्वरी।
मण्डलेशे शाण्डकी स्यात् काली कालञ्जरे पुनः ॥ ३८।३६।

कालञ्जर में नीलकण्ठ महादेव का मन्दिर बना है[1]। यहाँ के किले में कोट-तीर्थ नामक तीर्थयात्रा-स्थान दर्शनीय है। इस किले के निर्माण का संबन्ध चन्देल वंश के प्रवर्तक चन्द्रवर्मा से जोड़ा जाता है। इस किले में कालभैरव की अट्ठारह हाथ वाली एक दीर्घकाय प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह खोपड़ियों की माला और साँपों के बाजूबन्द पहने है। हिरण्यबिन्दु नामक तीर्थस्थान भी यहीं स्थित है[2]। कालञ्जर की पहाड़ी रविचित्र के नाम से भी प्रसिद्ध है[3]।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार एक ब्राह्मण ने किसी कुत्ते को लाठी से पीटा। कुत्ते के परामर्श से श्री रामचन्द्र ने उस ब्राह्मण को कालञ्जर में कुलपति (मठाधीश) पद पर अभिषिक्त कर दिया[4]। यह प्रसङ्ग कालञ्जर के बड़े तीर्थ स्थान होने की सूचना देता है। हिमालय के कालञ्जर के संबन्ध में इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

महाभारत वनपर्व में तीर्थों के वर्णन-प्रसङ्ग के अनुसार प्रयाग के अव्यवहित अनन्तर कालञ्जर का वर्णन किया गया है और इसी के आसपास चित्रकूट भी वर्णित हुआ है—'लोकविश्रुत कालञ्जर पर्वत पर देवह्रद में स्नान करने से सहस्र गोदान का पुण्य प्राप्त होता है। इसके अनन्तर गिरिवरश्रेष्ठ चित्रकूट में सर्व-पापप्रणाशिनी मन्दाकिनी में स्नान करना चाहिए[5]।'

---

१. 'कालञ्जरे नीलकण्ठम्'—वामनपुराण, अध्याय ९०, श्लोक २७

२. महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८७

३. J. A. S. B. XVII (1848) P. 171

४. प्रतिज्ञातं त्वया वीर ! किं करोमीति विश्रुतम् ।
प्रयच्छ ब्राह्मणस्यास्य कौलपत्यं नराधिप ॥३८॥
कालञ्जरे महाराज ! कौलपत्यं प्रदीयताम् ।
एतच्छ्रुत्वा तु रामेण कौलपत्येऽभिषेचितः ॥३९॥
—वाल्मीकीय रामायण ७।प्रक्षिप्त सर्ग २

५. मेधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥५५॥
अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम् ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥५६॥
यो स्नातः स्नापयेत् तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नात्यत्र संशयः ॥५७॥

गङ्गा-यमुना के संगम पर स्थित विख्यात प्रयाग-(जहाँ पर ब्रह्मा जी ने यज्ञ किया था), अगस्त्याश्रम- तथा तापसारण्य-वर्णन के अनन्तर गिरि कालञ्जर पर हिरण्यबिन्दु का वर्णन महाभारत में उपलब्ध होता है[1]। यह वर्णनक्रम सुस्पष्टतः बुन्देलखण्ड-स्थित कालञ्जर की ओर इङ्गित करता है। अनुशासन पर्व में भी प्रयाग के अनन्तर कालञ्जर गिरि का नामोल्लेख किया गया है[2]। यहाँ के किले का निर्माण किरातब्रह्म नामक चन्देल राजा ने कराया था[3]।

कालञ्जर के इस दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि महाभारतकाल में यह स्थान उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ था। इससे पूर्व उसका वन के रूप में उल्लेख मिलता है[4]। कालञ्जर के साथ पुलिन्दों की उत्पत्ति का संबन्ध बतलाता है कि यह उस जाति का गढ़ अवश्य था। पुलिन्द > बुलिन्द > बुन्देल (खण्ड) का सीमाक्षेत्र इसी के आसपास से प्रारम्भ हो जाता है। छोटे-बड़े देशी राज्यों का प्रक्रम इसी ओर से होता है। अजयगढ़, खजुराहो, महोबा, चरखारी, पन्ना, छतरपूर,

---

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशांपते !
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥५८॥

—महाभारत ३।८५।५५—५८

१. पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोर्वीर ! संगमं लोकविश्रुतम् ॥१८॥
यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम ॥१९॥
अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र ! तत्राश्रमवरो नृप !
तत् तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२०॥
हिरण्यविन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान् ।
अगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ॥२१॥

—महाभारत ३।८७।१८—२१

२. गङ्गायमुनयोस्तीर्थे तथा कालञ्जरे गिरौ ।
दशाश्वमेधानाप्नोति तत्र मासं कृतोदकः ॥

—महाभारत १३।२५।३५

३. कालिञ्जर in बुन्देलखण्ड. The fort was built by the चन्देल king किरातब्रह्म.

—Nundo Lal Dey : The Geographical Dictionary.

४. कालञ्जरवने—शिवोपनिषद् ६।१६० (वै० प० को०)

ओरछा, टीकमगढ़, दतिया आदि स्थान बुन्देलखण्ड के मुख्य अवयव हैं। बुन्देलखण्ड का ताना-बाना इन्हीं स्थानों के चारों ओर बुना है।

किसी भी राज्य को चलाने वाला सूत्रधार या तो राज्य के केन्द्र में रहता है या फिर ऐसे तीर्थस्थान में राजधानी बनाता है जहाँ जनता भक्तिप्रवण होकर स्वभावत: आकृष्ट होती हुई चली जाए। पूर्वोक्त स्थानों की किलेबन्दी का अपना विशिष्ट महत्त्व होते हुए भी ईश्वरप्रदत्त प्राकृतिक दुर्गम पर्वतों की किलेबन्दी इस प्रदेश की अधिकतम संरक्षक सिद्ध हुई है। (कालञ्जर तीर्थस्थान होने के अतिरिक्त सीमा पर अवस्थित रहने के कारण अधिकांशतः राजधानी बनता रहा है।) यह गहन पर्वतशृङ्खला चित्रकूट से लेकर होशंगाबाद तक चली गयी है। छत्रसाल के राज्यकाल में बुन्देलखण्ड का सीमावर्णन इस प्रकार किया गया है—

इत यमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टौंस।
छत्रसाल सों लरन की रही न काहू हौंस॥

बुन्देलखण्ड की उत्तरी सीमा पर यमुना, दक्षिणी पर नर्मदा, पूर्वी पर टौंस (<तमसा) तथा पश्चिमी पर चम्बल (<चर्मण्वती) नामक नदियाँ बहती हैं।

उपर्युक्त पर्वतारण्यानियों से परिवेष्टित स्थान बुन्देलखण्ड का हृदय इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि यह देशी रजवाड़े बुन्देलों की गौरवगाथा गा रहे हैं। अंग्रेजी राज्य में भी इन्होंने अपना प्रभुत्व खोया नहीं था। सागर जिले से लेकर [बीच में ग्वालियर राज्य का कुछ (भिलसा, पठारी, त्योंदा-रसूलपुर आदि) अंश छोड़कर] होशंगाबाद तक का समग्र प्रदेश अँग्रेजों ने अपने कब्जे में ले लिया था। वस्तुत: बुन्देलखण्ड का यह अधिकृत प्रदेश मुख्यत: दण्डक एवं दशार्ण था। भिलसा (<भैलस्वामिन्,[1] विदिशा) के आसपास का क्षेत्र दशार्ण के अन्तर्गत माना जाता था[2]। इस प्रदेश का यह नामकरण दशार्णा (>धसान) नदी के

---

१. Epigraphia Indica, Vol. I, P. 124.

२. (क) It is generally identified with वेदिसा or भिल्सा region in the Central Provinces. The दशार्णाः occupied a site on the दशार्ण river (modern धसान) near Saugor that flows through बुन्देलखण्ड rising in भोपाल and emptying in the वेतवा (<वेत्रवती). (ख)—विदिशा the chief city of दशार्ण was a halting place on the दक्षिणापथ.

—B. C. Law : Historical Geography of Ancient India.

कारण हुआ। आज भी इस नदी का संपर्क सागर के आसपास के क्षेत्रों से बना हुआ है[1]। पञ्चमसिंह के आगमन-काल में बुन्देलों ने दशार्ण से भी आगे तक धावा मारा और वहाँ तक अपना प्रभाव जमाया। चौदहवीं शताब्दी में बुन्देलखण्ड में बुन्देलों का बहुत जोर था। उसी समय कालञ्जर और कालपी उनके हाथ लगी थी। जब ये और आगे बढ़े तब इनकी मुसलमानों से मुठभेड़ होने लगी। कहा जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में बाबर ने बुन्देले सरदार राजा रुद्रप्रताप को अपना सूबेदार बनाया था। बुन्देलखण्ड में बुन्देलों और मुसलमानों में अनेकों बार बड़े-बड़े युद्ध हुए थे। १५४५ ई० में शेरशाह सूरि ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया था पर कालञ्जर पर घेरा डालने में ही उसकी मृत्यु हो गयी थी। बाद में यह प्रदेश मुसलमानों के हाथ में चला गया था। स्वतन्त्रता के पूर्व इसके दो विभाग थे—एक अँग्रेजी शासन के (अधीन) तथा दूसरा अनेक छोटे-बड़े राजाओं और जागीरदारों के अधीन।

---

१. पूर्व दिशा में भी एक दशार्ण देश का उल्लेख मिलता है—

ततः स गण्डकान् शूरो विदेहान् भरतर्षभः।
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः ॥४॥
तत्र दाशार्णिको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम्।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ॥५॥

—महाभारत २।२६।४—५.

दण्डक और द्रुह्य

दशार्ण एवं बुन्देलखण्ड (पूर्वोक्त रजवाड़ों) के बीच दण्डक जनपद आबाद था। दशार्ण की भाँति आज यह भी बुन्देलखण्ड में विलीन हो गया। ब्रह्माण्ड और मत्स्यपुराण में दण्डक जनपद का वर्णन मिलता है[1]। दण्डकारण्य ही उक्त जनपद था। यद्यपि इसका विस्तार बहुत अधिक है तथापि दण्डक जाति बुन्देलखण्ड के आसपास ही मिलती है। इसका उल्लेख पुलिन्द जनपद के साथ मिलता है। दण्डक जनपद में रहने के कारण उस जाति का नाम दण्डक>डाँग>डाँगी> दाँगी पड़ गया। यह डाँगी या दाँगी नामक क्षत्रियजाति आज भी आधिक्येन सागर तथा झाँसी जिले में फैली है[2]। 'दागी' जाति पंजाब के जंगलों में पायी जाती है[3]। सागर जिले में (बुन्देली भाषा में) जंगल को डाँग कहा जाता है। यह शब्द निश्चयतः दण्डक का विकसित रूप है। जंगल की लकड़ी काटने के लिए वहाँ 'डाँग काटबे जात हैं' का साधारणतः प्रयोग किया जाता है। इस दण्डक जनपद की स्थिति अधुनातन सागर, जालौन तथा झाँसी (कुछ अंश) जिलों में थी। कुछ लोग रघुवंशी राजपूत राजा दंग से दाँगियों

---

१. 'पुलिन्दा विन्ध्यमौलीया वैदर्भा दण्डकैः सह'

—ब्रह्माण्डपुराण २।१६।५८.

'पुलिन्दा विन्ध्यपुषिका वैदर्भा दण्डकैः सह'—मत्स्यपुराण ११४।४८.

२. दाँगी—An agricultural tribe found chiefly in झाँसी. The राजा दंग, a रघुवंशी राजपूत, from whom they trace descent but the word Probably means no more than "hill man" (हिन्दी-दंग "a hill man"). The Profess to be immigrants from a place called Niravar (नरवर), in the ग्वालियर state, with which, however, they appear to hold no connection by marriage or Pilgrimage, selection of bards, priests, or barbars; and those at present resident in the झाँसी district have come chiefly within comparatively recent times from the दतिया and टीकमगढ़ states.—W. Crooke, B. A. : Tribe and casts.

3. 'Dāgī—leather workers—Panjab hills'—Sir Athelstane Baines : Ethnography, P. 135.

की उत्पत्ति बतलाते हैं (देखिए द्वितीय पिछली टिप्पणी)। यह मत डब्ल्यू० क्रूक ने भी स्वीकृत नहीं किया। उन्होंने डाँग का अर्थ पहाड़ी (Hill) किया है। वाल्मीकीय रामायण के वर्णनानुसार पार्जिटर ने दण्डकारण्य का विस्तार बुन्देलखण्ड से कृष्णा नदी के तट तक माना है (J. R. A. S. 1874, P. 241-242)।

दशार्ण पूर्वी मालवा का नाम था[1]। यह बीना नदी तक फैला था। इसके अनन्तर क्रमशः रामठ, शवर, दण्डक, द्रुह्य और पुलिन्द थे। बीना नदी से लेकर छतरपुर के पहले पहले पूर्वोक्त चारों जातियों के राज्य थे। ओरछा, छतरपूर से कालञ्जर तक पुलिन्द (>बुन्देल) देश फैला था। वाल्मीकीय रामायण में दक्षिण की ओर दशार्ण का जो वर्णन किया गया है वह कुछ व्यत्यस्त-सा है। वहाँ उत्कल देश के अनन्तर दशार्ण देश का उल्लेख आया है[2]। संभवतः उस समय दशार्ण राज्य बहुत विस्तृत था। श्लोकों को ठीक बिठालने के प्रयत्न में भी ऐसे उलट-फेर अनेकत्र होते देखे जाते हैं।

मत्स्यपुराण में दक्षिणापथवासियों का वर्णन करते समय दण्डक और वैदर्भों से पूर्व पुलिन्दों का वर्णन किया गया है[3]। मेरे मतानुसार यह पुलिन्द जनपद निर्विवादरूपेण बुन्देल (खण्ड) है। वर्तमान बुन्देलखण्ड के सागर जिले की

---

१. विदिशा was the capital of eastern मालवा.
—B. C. Law : Historical Geography of India.

२. सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम्।
नर्मदां च नदीं रम्यां महोरगनिषेविताम् ॥८॥
ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम्।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम्।
मेखलानुत्कलांश्चैव दशार्णनगराण्यपि ॥९॥
—वा० रा० ४।४१।८—९।

३. तेषां परे जनपदा दक्षिणापथवासिनः ॥४७॥
कारूषाश्च सहैषीका आटव्याः शबरास्तथा।
पुलिन्दा विन्ध्यपुषिका वैदर्भा दण्डकैः सह ॥४८॥
कुलीयाश्च सिरालाश्च रूपसास्तापसैः सह।
तथा तैत्तिरिकाश्चैव सर्वे कारस्करास्तथा ॥४९॥
(तुलनीय—शंवर>शबर) —मत्स्यपुराण ११४।४७—४९
(कलिकाता संस्करण में ११३ अध्याय)

खुरई तहसील में ठाकुरबाबा (पञ्चमसिंह) और दरोइया बाबा के चबूतरे (समाधियाँ) बने हैं। दाँगी क्षत्रिय इनकी पूजा करते हैं। प्रथम, ठाकुरबाबा (पञ्चमसिंह) बुन्देला जाति के नेता थे। उनका प्रभाव दूर-दूर तक फैल चुका था। द्वितीय, दरोइया (<द्रुह्यः) बाबा द्रुह्य जाति थी। इसका निवास खुरई-बीना के आस-पास था। मत्स्यपुराण में पुलिन्दों से पहले द्रुह्य जाति का उल्लेख मिलता है[1]। इसी प्रकार राहतगढ़ की ओर शबर जाति का एक भेद रावत (जिझौतिया ब्राह्मणों में भी रावत भेद मिलता है। जिझौतिया ब्राह्मणों ने अनेक वर्षों तक यहाँ राज्य किया था। भिलसा में पुष्यमित्र भी राज्य करता था पर रामठ पद से उनका ग्रहण नहीं होता) पाया जाता है। रावत और सौंर जातियाँ क्रमशः रामठ तथा शबर का विकसित रूप हैं। इनका उल्लेख मत्स्य-पुराण में द्रुह्य, पुलिन्द, आभीर और पारदाहार ? (>पड़िहार) के अनन्तर आता है[2]। (पारदाः और हारमूर्तिकाः ऐसा भी विच्छेद किया जाता है।)

---

१. 'शका द्रुह्याः पुलिन्दाश्च पारदाहारमूर्तिकाः'—मत्स्यपुराण ११४।४?
(तुलनीय—मूर्तिकाः और ऐतरेय ब्राह्मण का मूतिबाः)

२. रामठाः कण्टकाराश्च कैकेया दशनामकाः।
क्षत्रियोपनिवेश्याश्च वैश्याः शूद्रकुलानि च ॥

—मत्स्यपुराण ११४।४२

राबर्ट् शेफर ने 'Ethnography of Ancient India' नामक अपनी पुस्तक के अन्त में संलग्न मानचित्र में 'रामठ' को हिमालय में अक्साइ चीन के निकट दिखलाया है। यद्यपि 'रामठाः' का विकास 'लामा' मान लिया जा सकता था तथापि उस स्थान से तिब्बत का कोई संबन्ध नहीं है।

कारूषाश्च सहैषीका आटव्याः शबरास्तथा।
पुलिन्दा विन्ध्यपुषिका वैदर्भा दण्डकैः सह ॥

—मत्स्यपुराण ११४।४८

अन्धाः शकाः पुलिन्दाश्च चूलिका यवनास्तथा।
कैवर्ताभीरशबरा ये चान्ये म्लेच्छसंभवाः ॥

—मत्स्यपुराण ५०।७६

रामठ और रावत

यद्यपि 'रावत' शब्द निःसंदेह 'रामठ' से विकसित हुआ है तथापि जिझौतिया ब्राह्मणों और सौंरों (<शबर) में इसका प्रचलन हमें इससे भी आगे सोचने-विचारने को बाध्य करता है। सौंर (<शबर) इसका प्रयोग 'रावत' के रूप में नहीं करते। समाज भी उन्हें रावत नहीं कहता। वे अपना परिचय 'राउत' कहकर देते हैं और समाज भी उन्हें राउत के रूप में पहचानता है। संभवतः प्रादेशिक उच्चारण की विशेषता के कारण रावत शब्द से राउत हो गया हो। 'जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है' पद्य के 'पावत' 'सोवत' [और 'खोवत'] शब्द बुन्देलखण्डी भाषा में 'पाउत' 'सोउत' [और 'खोउत'] हो जाते हैं।

यह समस्या फिर भी हल होती नहीं जान पड़ती क्योंकि ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त होने वाला 'रावत' शब्द अविकल रूप में विद्यमान है। यदि प्रादेशिक विशेषता के कारण 'व' 'उ' के रूप में परिवर्तित हो जाता तो इस शब्द को भी राउत हो जाना चाहिए था। कुछ विचारकों का कथन है कि दोनों में भेद दिखलाने के लिए एक वर्ग ने 'उ' को संभवतः 'व' लिखना प्रारम्भ कर दिया हो। उनके मतानुसार 'राउत' मूल शब्द है 'रावत' नहीं। सौंरों में प्रायः पढ़े-लिखे लोग नहीं होते। अतः वे अपना उपाधिरूपी 'राउत' शब्द लिखते नहीं किन्तु उच्चारण करते हैं। दूसरी ओर जिझौतिया ब्राह्मणों का रावत-वर्ग साक्षर ही नहीं है प्रत्युत महत्त्वपूर्ण पदों को भी संभाले है।

हमारे मतानुसार 'राउत' [तुलनीय—क्षत्रिय अर्थ में प्रयुक्त अलमोड़ा का रौत (ज्यू)] के मूल में 'राजपुत्र' शब्द अवस्थित है। 'राउत' (>राज-पुत्र) से विकसित एक शब्द और मिलता है—'राव'। 'राय' शब्द राजपुत्र> राउत से विकसित नहीं है। उसके मूल में 'राज (T)[1]' शब्द वर्तमान है। बुन्देलखण्ड में जिझौतिया ब्राह्मण भी राजा रह चुके हैं। तभी से जिझौतिया ब्राह्मणों का राजपरिवार 'राजपुत्र' रूप में विख्यात हो गया। किसी भी जाति के

---

१. आचारांग सूत्र; उवासगदसाओ; सुपासनाहचरिअ १०१; श्राद्ध-प्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति २७.

राजा का पुत्र 'राजपुत्र' कहलाने का अधिकारी है। अजयगढ़ और उत्तरी गुजरात के शिलालेखों में 'राउत'[1] और 'राउत्त'[2] शब्द राजपुत्र के अर्थ में उत्कीर्ण हैं। सौंरों से संबद्ध राउत शब्द या तो रामठ [>रावथ>रावत>राउत] से विकसित हुआ है ['म' का विकास 'व' होता है, यथा—नमन>नवना, गमन> गवन, गवना, आचमन>अँचोना, आदि] या फिर उक्त जाति कभी राजपद पर आसीन रह चुकी है। पंजाब के जंगलों में भी 'राउत' जाति रहती है। उसका व्यवसाय कृषि है[3]।

---

१. 'संवत् १३१७ राउत श्री जेतनव्यापारे श्रीमद्वीरवर्मराज्ये'—अजयगढ़ से प्राप्त वीरवर्मन् चन्देल का शिलालेख (Epigraphia Indica, Vol. I, P. 328).

संस्कृत में केवल 'रा' लिखा है राउत नहीं किन्तु अँग्रेजी-अनुवाद में सुस्पष्ट Rāut शब्द मिलता है। Archæological Survey, Vol. XXI में मूल संस्कृत में Rāut शब्द विद्यमान है।

२. संवत् १२८२ वर्षे पौषशुदि ४ शुक्रे गेडीआ राउत्त [मे] घां [सुत्त] वणरां। [धा] रातीर्थे पतितः॥

—Inscription From Northern Gujarat, No XI (Epigraphia Indica, Vol. II, P. 28).

'उपद्रष्टा रा० [utta] म [ल्ल] T'—Ahmadabad Inscription of Vis'āla Deva, [Vikrama] Samvat 1308 (Epigraphia Indica, Vol. V, P. 103).

३. 'Rāut—Peasants—Panjab hills'—Sir Athelstane Baines : Ethnography (Caste And Tribes) P. 163.

सुमीन विन्ध्यमौलीय और कुरुमी

भिलसा तथा सागर जिले के आसपास **मैना** (मेना) जाति छिटपुट फैली है । मार्कण्डेयपुराण में इसका 'सुमीनाः' नाम से उल्लेख मिलता है[1] । यह सुमीनाः>मीना>सेना>मैना (देश) जाति पुलिन्द देश के अनन्तर वर्णित है । इसका मुख्य आवास त्योंदा-रसूलपुर (भिलसा जिला) से पश्चिम में प्रतीत होता है ।

विन्ध्यमौलीय

ब्रह्माण्डपुराण में पुलिन्द देश के अनन्तर विन्ध्यमौलीयों का भी वर्णन आता है[2] । मत्स्यपुराण[3] में 'विन्ध्यमौलीयाः' के स्थान पर 'विन्ध्यपुषिकाः' पाठ मिलता है । उपर्युक्त मैना (<सुमीनाः) जाति का एक भेद 'बैंदालें' या बैंदेले होता है । यह शब्द निश्चयतः विन्ध्यमौलीय का विकसित रूप है । विन्ध्य-मौलीय>(य>ई, ध>द्) विन्दीमौलीय ['ध्य' का विकास प्रायशः 'झ' होता है । यहाँ 'य' को 'ई' हो जाने के कारण संयोग नष्ट हो गया अतः 'झ' नहीं हुआ यथा—मद्धिम (<मध्यम) । इसका एक रूप 'माँझ' (<मध्य) भी होता है ।] >(इ>ऐ, ई>ए, 'मौ' लोप, ई>ए, सस्वर यकार-लोप)—बैंदेलें, बैंदाले । लम्बे शब्दों में मध्य के अनेक वर्णों का लोप हो जाता है । यथा-मौसी (<मातृ-ष्वसृ) में 'त्' तथा 'ष्व' का लोप हो गया । उबका (<उद्वाहकः) [=अरिबन] में द् और 'ह' का लोप हो गया । कँधनी (<कटिबन्धनी) में 'टिब' का लोप

---

१. पुलिन्दाश्च सुमीनाश्च रूपपाः स्वापदैः सह ।
तथा कुरुमिनश्चैव सर्वे चैव कठाक्षराः ॥ मा० पु० ५७।५० ।

२. पुलिन्दा विन्ध्यमौलीया वैदर्भा दण्डकैः सह ।
पौरिका मौलिकाश्चैव अश्मका भोगवर्धकाः ॥
—ब्रह्माण्डपुराण २।१६।५८

३. कारूषाश्च सहैषीका आटव्याः शबरास्तथा ।
पुलिन्दा विन्ध्यपुषिकाः वैदर्भा दण्डकैः सह ॥
—मत्स्यपुराण ११४।४८

हो गया ; इसी प्रकार विन्ध्यमौलीय में 'मौ' का लोप ज्ञेय है (विशेष-विवरण के लिए देखिए हमारी पुस्तक—'लोकविज्ञान')

इसी ओर रहने वाली अहीरजाति में 'बँदेले' भेद पाया जाता है। यह भी **विन्ध्यमौलीय** का अपभ्रंश है। पूर्वोक्त मैना जाति-गत बैंदाले लोगों की स्त्रियाँ तक गोचारण करती हैं। अतः बैंदाले और बँदेले दोनों एक प्रतीत होते हैं। पश्चात् स्यात् कुछ सूक्ष्म भेद होने के कारण यह अलगाव हो गया हो। ब्रह्माण्डपुराण के सदृश मार्कण्डेयपुराण में भी पुलिन्द के पश्चात् **विन्ध्यमौलीय** जनपद का वर्णन किया गया है[१]। अतः मत्स्यपुराण का 'विन्ध्यपुषिकाः' या तो जनपदान्तर है या फिर 'विन्ध्यमौलीयाः' का पाठभेद। वायुपुराण में 'विन्ध्यमूलीकाः' पाठ विद्यमान है[२]। महाभारत में 'विन्ध्यचुलिकाः' पाठ मिलता है[३]। मत्स्यपुराण में केवल 'चूलिकाः' और वायुपुराण में 'तूलिकाः' पाठ मिलते हैं[४]। वे सत्य-भामा के 'भामा' (और 'सत्या') की भाँति ज्ञेय हैं।

कुरुमी

मार्कण्डेयपुराण में पुलिन्द और सुमीन देशों के अनन्तर कुरुमी (कुरुमिन्) देश का वर्णन किया गया है (देखिए तीसवें पृष्ठ की पहली टिप्पणी)। यह कुरुमी शब्द निर्विवादरूपेण कुर्मी जाति का बोधक है। **राहतगढ़** (सागर) तथा दमोह के आसपास कुर्मियों के गाँव के गाँव बसे हैं। वक्ष्यमाण भीलोन ग्राम से तीन मील दूर दक्षिण की ओर विन्ध्य पहाड़ की तलहटी में कुर्मियों का **गूजर करैया**

---

१. आभीराः सह वैशिक्या आढक्या शबराश्च ये।
पुलिन्दा विन्ध्यमौलीया वैदर्भा दण्डकैः सह ॥
—मार्कण्डेयपुराण ५७।४७

२. अथापरे जनपदा दक्षिणापथवासिनः ॥१२४।
आभीराः सह चैषीका आटव्याश्च वराश्च ये।
पुलिन्दा विन्ध्यमूलीका वैदर्भा दण्डकैः सह ॥१२६।
—वायुपुराण ४५।१२४, १२६

३. 'तथैव विन्ध्यचुलिकाः पुलिन्दा वल्कलैः सह'—महाभारत ६।६।६२

४. 'अन्धाः शकाः पुलिन्दाश्च चूलिका यवनास्तथा'—मत्स्यपुराण ५०।७६
'अन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च तूलिका यवनैः सह'—वायुपुराण ६६।२६८

ग्राम वसा है। इस ग्राम से दो फर्लांग दूर लगभग पहड़िया के ऊपर पुराना करैया ग्राम विध्वस्त पड़ा है। [यहाँ सफेद मिट्टी (छुई) की खानें विद्यमान हैं। ग्रामों के अधिकांश लोग इससे घर की पुताई करते हैं। यह चूने से कुछ कम सफेद होती है। अच्छी छुई चूने से टक्कर लेती है पर चूने के समान शरीर को हानिकारक नहीं होती।] गूजर शब्द इस ग्राम को गुर्जर (खजर ?) से संबद्ध बतलाता है। इस ग्राम के पहाड़ में चन्दन के वृक्ष पाये जाते हैं। कुछ लोग कुर्मी जाति को कूर्म से संबद्ध बतलाते हैं।

शबर

शबर देश या जाति के नाम पर वर्तमान सागर जिले का शबर>सौर>सौ-(गो) र (Saugor) नाम पड़ा[1]। इस शबर>सौंर जाति की स्थिति जालन्धर (जरुआखेड़ा के पास) पहाड़ के आस-पास थी। यहाँ तेंदू, अचार, गोंद, इमारती लकड़ी, चंदन, बेर-मकोरा, मछौं (<मधु) तथा कैथ इत्यादि पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। अब भी सौंर (भील) जाति इनको बेच तथा खाकर अपना जीवन-निर्वाह करती है। सल्लक्षणसिंह के झाँसी-प्रस्तर-लेख[2] में प्रचण्ड वेग वाले, धनुषों पर गर्व करने वाले भिल्लों [भीलों] का उल्लेख मिलता है। सल्लक्षणसिंह कीर्तिवर्मा (चन्देल राजा) के समसामयिक थे।

जालंधर पहाड़ के पश्चिमी छोर पर भीलौन (<भिल्लवन) नामक ग्राम [कटनी-बीना लाइन पर सागर से तीसरे स्टेशन सुमरेरी से दो मील दक्षिण-पूर्व में] आज भी बसा है। पहले-पहल उस में दो सुविशाल घर थे। प्रत्येक घर के अन्दर लगभग एक-एक दर्जन छोटे-छोटे घर हैं। उनमें पृथक्-पृथक् परिवार रहा करते हैं। केन्द्रीय घर में एक विशाल गुफा है। वह आपत्तिकाल में शत्रुओं से प्राण बचाने के लिए बनायी गयी थी। उसका दूसरा छोर ग्राम से काफी दूर दक्षिण की ओर निकलता है। उसके मुहाने पर पत्थर रखा रहता है। उक्त ग्रामवासियों ने उसका इतिहास इस प्रकार बताया—

दुर्भिक्ष से पीडित हमारे पूर्वज ऊँट और हाथियों पर सवार होकर सपरिवार

---

१. पुलिन्ददेश—It included the western portion of बुन्देलखण्ड and the district of सागर (वामनपुराण अध्याय ७६). The कथासरित्सागर confounds the S'avaras (शवर) with the Pulindas (पुलिन्द) and S'avar (शवर) is the same as **Saugor** (Archæological survey report, Vol. XXI).

—Nundo Lal Dey : The Geographical Dictionary of Ancient And Mediæval India. विशेष-विवरण के लिए द्र० Archæological Survey, Vol. XVII, P. 112.

२. भिल्लानुद्गतरंहसः करल [ग] त्कोदण्डगर्व्वोद्धटा [नु]-

—Epigraphia Indica, Vol. I, P. 215.

इस गाँव की ओर आ निकले। इस गाँव के किलेनुमा विशाल घरों के फाटक तो खुले पाये पर बहुत प्रतीक्षा करने पर भी निवासियों का कुछ पता न चल सका। अन्दर जाकर देखा—सब खाली पड़ा था। फलतः वे लोग यहाँ अपने-अपने कुटुम्ब के साथ बस गये। उक्त इन घरों के निवासी भील, हमारे पूर्वजों के आने से पहले, या तो डाकुओं के आक्रमण से त्रस्त होकर गुफा के मार्ग से पलायित हो गये या फिर हमारे पूर्वजों के हाथी-ऊँट देख भीत होकर जंगलों की ओर भाग गये।

उक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि सागर-जिला बुन्देलखण्ड नहीं था। यहाँ सौंर (भील), बँदाले, "मैना[1], दरोइया आदि जातियों के उपनिवेश थे। पश्चात् बुँदेले और दाँगी ठाकुर इस संपूर्ण प्रदेश पर छा गये। गोंड़ों और मराठों ने भी छिट-पुट छापे मारकर सागर तथा खुरई आदि के किलों में स्थान जमाया। इस जिले में प्रायः थोड़ी-थोड़ी दूर पर स्थित पहड़ियों पर बने किले मिलते हैं। वह छोटे-छोटे अनेक राज्यों (जनपदों) और जातियों की सूचना देते हैं। बुन्देला राज्य-विस्तार में होशंगाबाद तक का समस्त भूभाग बुन्देलखण्ड में संमिलित हो गया। वीरसिंह और छत्रसाल ने (१६४८ ई०—१७३१) अपने राज्य का पर्याप्त विस्तार किया और तभी बुन्देलखण्ड में ऐक्य स्थापित हुआ। उस समय की एक बुझौअल इस राज्यविस्तार के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त है—

भैंस बँधी है ओरछै पड़ा होशंगाबाद।
लगवैया है सागरै चपिया रेवा-पार॥

छत्रसाल-राज्य के आधार पर बुंदेलखण्ड की सीमा इस प्रकार हो गयी—उत्तरप्रदेश में—१ जालौन, २ हमीरपुर, ३ झाँसी, ४ बाँदा,; मध्यप्रदेश में—५ टीकमगढ़, ६ छतरपुर, ७ पन्ना, ८ दमोह, ९ सागर, १० नरसिंहपुर, ११ भिण्ड, १२ दतिया, १३ ग्वालियर, १४ शिवपुरी, १५ मुरैना, १६ गुना, १७ विदिशा, १८ रायसेन, और १९ होशंगाबाद।

---

१. तुलनीय उदयपुर की मीना जाति। 'मीनों का उपद्रव'—द्रष्टव्य 'उदयपुर राज्य का इतिहास (दूसरी जिल्द), ७६३वाँ पृष्ठ।

महाराज वीरसिंहदेव ने मैना और जाटों को हराया।
—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, १३० पृष्ठ।

बुन्देला

श्री डब्ल्यू, क्रूक महाशय ने लिखा है कि "मिर्जापुर के बुन्देला ठाकुरों की परम्परा के अनुसार वे गहरवार राजपूतों के वंशक्रम से आये हैं। उनका अभिजन विन्ध्याचल के निकट गौर ग्राम में है। उनके पुरखों में से किसी एक ने पन्ना-महाराज के यहाँ नौकरी कर ली थी। वह राजा सन्तानरहित मर गया। फल-स्वरूप गह्रवार साहसी योद्धा ने उसके किले का अधिकार ले लिया। उसके भी कोई सन्तान नहीं थी। अतः जीवन से निराश होकर उसने विन्ध्याचल पर्वत पर स्थित विन्ध्यवासिनी देवी को अपना सिर समर्पित कर दिया। वेदी पर गिरी बूंदों से एक बालक उत्पन्न हुआ। पीछे चलकर वह बुन्देला कहलाया क्योंकि वह रक्त की बूंदों से उत्पन्न हुआ था। बुन्देला पन्ना लौट आया और उसने अपने नाम पर अपना वंश स्थिर किया[1]।"

---

१. बुंदेला—A sept of Rājapūtas (राजपूत) almost entirely confined to the Bundel Khaṇḍ country, to which they have given their name, now included in the Allahabad division, According to the Mirjāpur (मिर्जापुर) tradition they are descended from a family of Gaharvār Rājpūtas (गहरवार राजपूत), resident at the village of Gaur (गौर), near Vindhāchal (विन्ध्याचल). Of their ancesters one took service with the Rājā of Pannā (पन्ना), an independent state between Bāndā (बाँदा), and Jubbulpore (जबलपूर). The Rājā died childless, and the Gaharvār (गहरवार) adventurer took possession of his fort. He had no son, and being disgusted with life, he made Pilgrimage to the shrine of the Vindhyavāsinī Devī (विन्ध्यवासिनी देवी), at Vindhāchal (विन्ध्याचल), where he offered his head to the goddess. Out of the drops of his blood which fell upon the alter a boy was born, who was called Bundelā (बुन्देला), because he sprang from the drops (Būnd) of blood. He returned to pannā (पन्ना) and founded the clan which bears his name.

—W. Crooke B. A. : The Tribes And Castes.

उपर्युक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि बुन्देला-वंश का प्रवर्तक पन्ना का शासक था। उसके नाम से प्रसिद्ध बुन्देलखण्ड पन्ना राज्य के आस-पास का भूभाग था। विन्ध्याचल, हमीरपुर, कालञ्जर, अजयगढ़, महोबा, चरखारी, विजावर, पन्ना, नागोद, छतरपुर, टीकमगढ़, ओरछा, दतिया आदि (जो प्रथम दो को छोड़कर अँग्रेजों के शासनकाल में स्वतन्त्र राज्य थे) बुन्देलखण्ड के मुख्य अङ्ग हैं। पहाड़ों का कटाव भी इसी सीमा के अनुकूल है। इस बुन्देलखण्ड की अनेक दिशाओं में किलों के अनुरूप पहाड़ अड़े खड़े हैं। यह पहाड़ सागर जिले को अपनी सीमा से विभक्त कर देते हैं[1]। सागर जिले की सीमान्तवर्ती बंडा तहसील से आगे (बिजावर, छतरपुर की ओर) भाषा में पर्याप्त परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं।

बुन्देलोत्पत्ति-संबन्धी यह जनश्रुतियाँ वामनपुराणोक्त पुलिन्दोत्पत्ति-स्थान प्रयाग-कालञ्जर के आस-पास ही चक्कर काटती हैं। महाकवि कालिदास ने पुलिन्दों का सुस्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार कुश ने पुलिन्दों द्वारा समर्पित उपहार स्वीकृत करते हुए विन्ध्य को लाँघा[2]। यह विवरण विन्ध्य के इसी ओर (बंडा से उत्तर-पूर्व) पुलिन्दों की स्थिति बतलाता है। विन्ध्यप्रदेश दक्षिण में छतरपूर तक माना जा सकता है[3]। इसी भाग (छतरपूर झाँसी आदि) के लोगों को कालिदास ने उद्दण्ड बतलाया है[4]। यहाँ के कुख्यात डाकू कालिदास के वर्णन को पुष्ट करने के लिए अभी सव्यापार हैं। ऐतरेय ब्राह्मण आदि में पुलिन्दों को दस्यु कहा गया है[5]। (महाभारत के सभापर्व में वर्णित सहदेव द्वारा संपादित दिग्विजय के आधार पर हिन्दी-शब्द-सागर में गुजरात और राजपूताने के बीच पुलिन्द जाति

---

१. 'The Century Atlas of The World' के India (Atlas) No 104 मेप में भी छतरपुर, पन्ना आदि को बुन्देलखण्ड में दिखलाया गया है सागर को नहीं।

२. 'व्यलङ्घयद् विन्ध्यमुपायनानि पश्यन् पुलिन्दैरुपपादितानि'

—रघुवंश १६।३२

३. उसके आगे की अरण्यानी तो विन्ध्य का प्रत्यन्तपर्वत होगा।

४. 'वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरास्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः'

—रघुवंश १६।१६

५. 'आन्ध्राः पुण्ड्राः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा इति'—ऐतरेयब्राह्मण ७।१८

के स्थान का अनुमान किया गया है[1]। संभव है इसकी एक शाखा वहाँ भी रही हो।) किसी से न दवने तथा किसी का अनुशासन न मानने के कारण इनका (दस्यु=शत्रु) यह नामकरण हुआ था। वामनपुराण में इन्हें भीषणकर्मकार कहा गया है[2]।

वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में देश-देशान्तरों के वर्णनप्रसङ्ग के अवसर पर सुग्रीव ने पुलिन्दों की स्थिति शूरसेन (=मथुरा आगरा) के आस-पास वतलायी थी[3]। श्रीमद्भागवत (१०।२१।१७) में भी उनकी आवा-जाई व्रज में वतलायी है। वहाँ पुलिन्दों को म्लेच्छों से अलग वतलाया गया है। म्लेच्छ शब्द पुलिन्दों का विशेषण नहीं है। अमरकोशकार पुलिन्दों को म्लेच्छ जाति का भेद वतलाते हैं[4]। वाल्मीकीय रामायण में म्लेच्छों से पुलिन्दों का

---

१. मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो वलात्।
नाचीनानर्वुकांश्चैव राज्ञश्चैव महावलः ॥१४॥
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महावलः ॥१५॥
पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥१६॥
तं जित्वा स महावाहुः प्रययौ दक्षिणापथम्।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ॥१७॥
—महाभारत २।३१।१४—१७

"महाभारत सभापर्व में सहदेव के दिग्विजय के संवन्ध में लिखा है कि उन्होंने अर्वुक राजाओं को जीतकर वाताधिप को वश में किया और उसके पीछे पुलिन्दों को जीतकर वे दक्षिण की ओर वढ़े। कुछ लोगों के अनुमान के अनुसार यदि अर्वुक को आवू पहाड़ और वात को वातापिपुरी (वादामी) मानें तो गुजरात और राजपूताने के वीच पुलिन्द जाति का स्थान ठहरता है"—हिन्दीशव्दसागर.

२. 'प्रोवाच तान् भीपणकर्मकारान् नाम्ना पुलिन्दान् मम पापसंभवाः!'
— वामनपुराण ७६।२५

३. 'तत्र म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च'
—वाल्मीकीय रामायण ४।४३।११

४. 'भेदाः किरात-शवर-पुलिन्दा म्लेच्छजातयः'—अमरकोश २।१०।२०

पार्थक्य सूचित करता है कि पुलिन्द, शबर आदि म्लेच्छ-जातियों की अपेक्षा बहुत अधिक सुसंस्कृत थे। वाल्मीकीय रामायण-गत श्लोक के चकार को पाद-पूर्त्यर्थक मान लेने पर इन्हें म्लेच्छ जाति का भेद स्वीकार कर लेना पड़ता है। संभवतः म्लेच्छ-जातियों के निकटवर्ती होने के कारण इन्हें भी म्लेच्छ नाम से संबोधित कर दिया गया[1]। गंदे किन्तु आभिजात्य लोगों को आज भी म्लेच्छ कह दिया जाता है। अस्पष्ट वाणी बोलने वालों का भी म्लेच्छ नाम से स्मरण किया जाता था[2]। असंस्कृत तथा आचार-विचार-विहीन असभ्य जातियों को म्लेच्छ संज्ञा प्रदान की जाती थी। महाभारत के (उलूक-दूतागमन, दुर्योधन-वाक्य) उद्योगपर्व में दुर्योधन दाक्षिणात्य जातियों का उल्लेख म्लेच्छ कहकर करता है[3]। वहाँ म्लेच्छ शब्द विशेषण न माना जाकर स्वतन्त्र जातिविशेष भी समझा जाता है। युधिष्ठिर के प्रति उलूकदूत के वचन में भी यही विशेषण दिया गया है[4]। कर्णपर्व में पुलिन्द आदि जातियाँ म्लेच्छों से निःसन्देह पृथक् गिनायी गयी हैं[5]।

भीष्मपर्व के भारतीय नदी-देशादि-कथनाध्याय में शूरसेनों के अनन्तर पुलिन्दों का वर्णन करके चेदि (जबलपुर) मत्स्य (अलवर), करूष (बघेलखण्ड) तथा भोज (भोपाल) के बाद सिन्धु-पुलिन्द जनपद का नाम उपन्यस्त किया

---

१. क्षत्राः पारशवाः शूद्रास्तथा ये च द्विजातयः।
अन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च तूलिका यवनैः सह॥
कैवर्ताभीरशवरा ये चान्ये म्लेच्छजातयः।

—वायुपुराण ६६।२६८

२. म्लेच्छ् (म्लेच्छ) १।२०५ अव्यक्ते शब्दे—सिद्धान्तकौमुदी, ३५८ वाँ पृष्ठ

३. प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यैरुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यैर्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥

—महाभारत ५।१६०।१०३

४. प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यैरुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यैर्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥

—महाभारत ५।१६१।२१

५. आन्ध्रकाश्च पुलिन्दाश्च किराताश्चोग्रविक्रमाः।
म्लेच्छाश्च पर्वतीयाश्च सागरानूपवासिनः॥

—महाभारत ८।७३।२०

गया है[1]। यह जनपद या तो सिन्धु नदी के आस-पास स्थित था या फिर भोपाल से आगे सहदेव द्वारा विजित पुलिन्द ही सिन्धुपुलिन्द कह दिये गये।

महाभारत में पुलिन्द दुर्योधन की ओर से युद्ध करते थे। यह द्रोणाचार्य तथा कर्ण के सेनापतित्व में देखे गये[2]। भगदत्त की टुकड़ी में मगध, कलिङ्ग और पिशाच-जनपदीय लोग थे, पुलिन्द नहीं। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार द्रोणाचार्य के पिता भरद्वाज का आश्रम प्रयाग में गंगा-यमुना संगम से आगे मुहूर्त भर के रास्ते पर स्थित था[3]। श्री रामचन्द्र द्वारा एकान्त आश्रम स्थान का पता पूछे जाने पर भरद्वाज ने उन्हें वहाँ से दस कोस दूरवर्ती चित्रकूट गिरि का परिचय दिया[4]। चित्रकूट बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत पड़ता है। ओरछा राज्य

---

१. तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधा मालास्तथैव च ॥३९॥
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्याः कुन्तयः कान्तिकोसलाः।
चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ॥४०॥
—महाभारत ६।४२।३९—४०

२. अग्रतः सर्वसैन्यानां भीष्मः शान्तनवो ययौ।
मालवैर्दाक्षिणात्यैश्च आवन्त्यैश्च समन्वितः ॥६॥
ततोऽनन्तरमेवासीद् भारद्वाजः प्रतापवान्।
पुलिन्दैश्च पारदैश्च तथा क्षुद्रकमालवैः ॥७॥
द्रोणादनन्तरं यत्तो भगदत्तः प्रतापवान्।
मगधैश्च कलिङ्गैश्च पिशाचैश्च विशांपते ! ॥८॥
—महाभारत ६।८७।६—८

'सशक्तिप्रासतूणीरानश्वारोहान् हयानपि।
पुलिन्दखसबाह्लीकनिषादान्ध्रककुन्तलान्'—महाभारत ८।२०।१०
'आन्ध्रकाश्च पुलिन्दाश्च किराताश्चोग्रविक्रमाः।
म्लेच्छाश्च पर्वतीयाश्च सागरानूपवासिनः'—महाभारत ८।७३।२०

३. गङ्गायमुनयोः सन्धौ प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥८॥
रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥
—वाल्मीकीय रामायण २।५४।८—९

४. दशक्रोश इतस्तात ! गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यसि।
महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः ॥ वा० रा० २।५४।२८

के सबसे उत्तरी भाग में चिरगाँव से छै मील पूर्व झाँसी जिले में **वागाट** (<वाकाटक) नामक पुराना गाँव स्थित है। लोगों में प्राय: यही माना जाता है कि महाभारत के सुप्रसिद्ध ब्राह्मणवीर द्रोणाचार्य का यह गाँव है। द्रष्टव्य 'अन्धकारयुगीन भारत' १२५ पृ०। भरद्वाज के पुत्र द्रोणाचार्य पुलिन्दों के स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। अत: उन्होंने पुलिन्दों को अपने सेनापतित्व में लेकर युद्ध किया[१]। अधिक विश्वस्त तथा जाने-माने स्वभाव के सैनिकों पर सेनापति की विजयाशा अवलम्बित रहती है।

बुन्देलखण्ड में पुलिन्दों के नाम पर नगर भी वसा था। महाभारत सभापर्व में इस **पुलिन्दनगर** का उल्लेख मिलता है। दिग्विजय के सिलसिले में भीमसेन ने दक्षिण की ओर अवस्थित विशाल **पुलिन्दनगर** पर आक्रमण करके शासक **सुकुमार** तथा **सुमित्र** को वश में किया। इसके अनन्तर चेदिराज शिशुपाल की ओर अभियान किया[२]। यह **चेदि आधुनिक बुन्देलखण्ड** के अन्तर्गत वताया जाता है[३]। उक्त **पुलिन्दनगर बाँदा** (कालञ्जर) के लगभग रहा होगा क्योंकि भीमसेन ने पूर्व दिशा से आकर पहले पुलिन्दनगर को और उसके वाद चेदि को जीता। यद्यपि 'पुलिन्द:' का एक अपभ्रंश **बाँदा** भी हो सकता है तथापि पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में यह निर्धारण अपुष्टिकर होगा। सहदेव ने भी दक्षिण दिशा में जाकर शूरसेन (व्रज) देशों को जीता; **मत्स्यराज** को परास्त कर सुकुमार और सुमित्र भूपति को वशंगत बनाया। इसके पश्चात् लुटेरे **अपर-मत्स्य** देश को जीता। सहदेव द्वारा विजित सुकुमार और सुमित्र किस देश के शासक थे? महाभारत में इसका उल्लेख नहीं किया गया[४]। चेदि के

---

१. देखिए ३९ वें पृष्ठ की द्वितीय टिप्पणी।

२. ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत्।
सुकुमारं वशं चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥१०।
ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद् भरतर्षभ:।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय! ॥११।
चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम् ॥१२।

—महाभारत २।२९।१०—१२

३. It corresponds roughly to the **modern Bundel Khand** and the adjoining region सोत्थिवतीनगर (Jātaka No 422) शुक्तिमती (Mahábhárata 3|20|50 ; 14|83|2)

—B. C. Law : Historical Geography of Ancient India.

४. महाभारत २।३१।१,२,४

निकटवर्ती पुलिन्दनगर पर भीमसेन का आक्रमण पुलिन्द[illegible] वर्णन बताने में अत्यन्त सहायक है। यह पुलिन्दनगर किसी पुलिन्द नामक राजा या जाति के नाम पर अवश्य बसा होगा। चेदि पुरातन बुन्देलखण्ड कभी नहीं था। पुलिन्द और चेदि देशों का पृथक्शः वर्णन दोनों का भेद सूचित करने के लिए पर्याप्त है। कुछ विद्वान् शूरसेन के निकटवर्ती पुलिन्द को बुलन्द शहर और कुछ (पुलिन्दाः >) बाँदा बताते हैं। बुलन्दशहर पुरातन नाम नहीं है[1]।

पुलिन्द नामक कुछ शासक भी हो गये हैं। विष्णुपुराण में चन्द्रगुप्त के अनन्तर पुष्यमित्र की छठीं पीढ़ी में 'पुलिन्दक' नामक शासक का उल्लेख आया है[2]। उसी विष्णुपुराण में पलेलक के पुत्र तथा सुन्दर के पिता 'पुलिन्दसेन' का वर्णन हुआ है[3]। (मद्रास प्रेसीडेन्सी) गञ्जाम जिला में गुमसूर तालुका के बुगुड ग्राम में प्राप्त ताम्रपत्र-अभिलेख के अनुसार पुलिन्दसेन नामक राजा कलिङ्ग देश की जनता में ख्यात था[4]। शुङ्ग राजवंश के पुष्यमित्र और अग्निमित्र की पश्चिमी राजधानी विदिशा थी[5]। अग्निमित्र के पौत्र वसुमित्र का पौत्र पुलिन्दक था। इस शुङ्गवंशीय पुलिन्दक के नाम पर बुन्देलखण्डी सीमा-विस्तार की संभावना

---

१. The old name of Buland shahr itself was Varana or Barana. This is no doubt the place after which the Vārana gana was named. —Epigraphia Indica, Vol. I, P. 379.

२. पुष्यमित्रः सेनापतिः स्वामिनं हत्वा राज्यं करिष्यति तस्यात्मजोऽग्निमित्रः ॥३४।
तस्मात् सुज्येष्ठस्ततो वसुमित्रस्तस्मादप्युदङ्कस्ततः पुलिन्दकस्ततो घोषवसुः ॥३५।
—विष्णुपुराण ४।२४।३४—३५

३. 'हालाहलात् पललकस्ततः पुलिन्दसेनस्ततः सुन्दरस्ततः शातकर्णिः'
—विष्णुपुराण ४।२४।४७

४. राजीवकोमलदलायतलोचनान्तः ख्यातः कलिङ्गजनतासु पुलिन्दसेनः॥३।
No 6 Bugud Plates of Madhava varman (Epigraphia Indica, Vol. III, P. 43)

५ It (विदिशा) remaind as the western capital of पुष्यमित्र and अग्निमित्र of the शुंग dynasty. 'विदिशा the chief city of दशार्ण was a halting place on the दक्षिणापथ.
—B. C. Law.

की जा सकती है। मत्स्यपुराण के अनुसार पुष्यमित्र की पीढ़ी के अन्तक का पुत्र पुलिन्दक था[1]। यद्यपि विष्णुपुराण के वर्णन से मत्स्यपुराण के वर्णन में थोड़ा सा हेरफेर है तथापि तथ्य भिन्न भिन्न नहीं हैं। श्रीमद्भागवत में इसे शुङ्गराजवंशीय भद्रक का पुत्र तथा घोष का पिता बताया गया है[2]। वड़ोह (<वाटोदक) [भिलसा] में कुमारगुप्त और घटोत्कचगुप्त के शिलालेख पाये गये हैं[3]। कुमारगुप्त के समय पुष्यमित्र लोग इतने बलवान् हो गये थे कि उन्होंने उस सम्राट् पर भीषण आक्रमण किया था (द्र० अन्धकारयुगीन भारत, १६० पृष्ठ)।

शासकों के पुलिन्द नामकरण से यह तो स्पष्ट है कि पुलिन्द नाम (दस्यु या म्लेच्छ के समान) हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वस्तुतः पुलिन्द क्षत्रिय-जाति थी म्लेच्छ या शूद्र नहीं। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर की सभा में किरातराज पुलिन्द उपस्थित होता था। उसे महाभारत में क्षत्रिय बताया गया है[4]।

---

१. पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान्।
कारयिष्यति वै राज्यं षट् त्रिंशतिसमा नृपः ॥२६।
भवितापि वसुज्येष्ठः सप्त वर्षाणि वै नृपः।
वसुमित्रस्तथा भाव्यो दश वर्षाणि वै ततः ॥२७।
ततोऽन्तकः समे द्वे तु तस्य पुत्रो भविष्यति।
भविष्यति समास्तस्मात् त्रीण्येवं स पुलिन्दकः ॥२८।
—मत्स्यपुराण २७३।२६—२८

२. हत्वा बृहद्रथं मौर्यं तस्य सेनापतिः कलौ।
पुष्यमित्रस्तु शुङ्गाख्यः स्वयं राज्यं करिष्यति ॥
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति ॥१६।
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता ततः।
ततो घोषः सुतस्तस्माद् वज्रमित्रो भविष्यति ॥१७।
—श्रीमद्भागवत १२।१।१६—१७

३. वाटोदक—The Tumain inscription of कुमारगुप्त and घटोत्कचगुप्त dated G. E. 116 mentions it, which is probably modern वड़ोह, a small village in the भिलसा district of the Gwalior state, about ten miles to the south of एरण (E. I. XXVI Pt. III July 1949 P. 117)—B. C. Law.

४. जटासुरो मद्रकाणां च राजा कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः।
तथाङ्गवङ्गौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ॥२४।

महाभारत (आदिपर्व) के अनुसार विश्वामित्र ने वशिष्ठ की कामधेनु का बलपूर्वक अपहरण करने का प्रयत्न किया। कामधेनु ने क्रुद्ध होकर मुख के फेन से चिबुक, पुलिन्द, चीन, हूण तथा केरल आदि अनेक प्रकार के म्लेच्छ उत्पन्न किये[1]। मेरी बुद्धि के अनुसार कामधेनु (गौ) का अर्थ पृथिवी है (वह भी विशेषतः आर्यावर्त से संबद्ध)। इस आर्यावर्त के पूर्वी भाग में किरात, भील आदि का तथा पश्चिमी भाग में यवनों का निवास सर्वजनवेद्य है[2]। पूर्व दिशा में ठहरा हुआ गौ का मुख उसके इच्छानुरूप हिलाने-डुलाने से पूर्वोत्तर और पूर्वदक्षिण की ओर भी मुड़ जाता है। फलतः पूर्वोत्तरीय चीनी लोगों की फेन से उत्पत्ति की बात संगत हो जाती है। पुलिन्दों की प्रथमोत्पत्ति भी हिमालय के निकट ज्ञेय है। कालञ्जर के पास तो वे इन्द्र के साथ आये थे। लिङ्गपुराण के अनुसार उनका नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व और वारुण देशों में भी जाकर बस जाना सिद्ध होता है[3]। वैखानसधर्मप्रश्न में उन्हें अरण्यवृत्ति एवं दुष्टमृगघाती कहा गया है[4]। यहाँ पुलिन्द जाति को म्लेच्छ संज्ञा नहीं दी गयी। दुष्टमृगघाती कहकर उन्हें शूर और सज्जनों के प्रति दयालु आदि दिखाया गया है।

उक्त जातियों को उत्पन्न करने वाली कामधेनु जहाँ रहती थी वह वशिष्ठाश्रम

एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसंमताः ॥३२॥
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥३३॥

—महाभारत २।४।२४,३२,३३

१. चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् सकेरलान्।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ॥

—महाभारत १।१७६।३७

२. पूर्वे किरातास्तस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च सर्वशः ॥

—लिङ्गपुराण पूर्वा० ५२।२६

'पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनास्तथा'—मार्कण्डेयपुराण ५७।८

३. नागद्वीपं तथा सौम्यं गान्धर्वं वारुणं गताः।
केचिन्म्लेच्छाः पुलिन्दाश्च नानाजातिसमुद्भवाः ॥

—लिङ्गपुराण पूर्वार्द्ध ५२।२८

४. 'गूढाचारात् पुलिन्दोऽरण्यवृत्तिः दुष्टमृगघाती'

—वैखानसधर्मप्रश्न ३।१४।२

अरावली अरण्यानी में आबू पर्वत पर था[1]। यह वर्णन भी पुलिन्दों की बुन्देलखण्ड-स्थिति के अनुकूल है। आबू पर्वत से बुन्देलखण्ड की अरण्यानी विशेष व्यवधान नहीं रखती। संभव है पुलिन्द आदि वशिष्ठ की सहायता करने हेतु आबू पहुँचे हों। आबू उक्त अधिकांश देशों के केन्द्र में स्थित है। मालव देश के (परमार) राजा अपनी उत्पत्ति भी वशिष्ठ की कामधेनु के प्रभाव से (अग्नि-कुण्ड से) बताते हैं—द्रष्टव्य मालव के राजाओं की उदेपुर प्रशस्ति (एपिग्राफिया इण्डिका पहला खण्ड, २३४ पृ०)।

बुन्देलखण्ड के अतिरिक्त पुलिन्द जाति की स्थिति का उल्लेख कामरूप के उत्तर में मिलता है। वस्तुतः इसका निवास स्थान हिमालय था। पूर्वपृष्ठों में यह बताया गया है कि **पुलिन्द्** जाति **पुरन्दर** से अवश्य संबद्ध थी। हिमालय (त्रिविष्टप > तिब्बत) इन्द्र का आवास था। उक्त पुलिन्द जनपद को आर्य जनपद कहा गया है[2]। महाभारत में पुलिन्दों की स्थिति गन्धमादन पर्वत पर बतलायी गयी है। इन विविध वर्णनों के विद्यमान रहने पर भी वास्तविकता यह है कि इनका मुख्य गढ़ बुन्देलखण्ड के अतिरिक्त दूसरा नहीं था। हिमालय आदि की ओर इनकी संख्या अत्यल्प (पुलिन्दशतसङ्कुल) सौ के आस-पास शेष बची थी[3]। वस्तुतः वहाँ पुलिन्द के स्थान पर कुलिन्द पढ़ा जाना चाहिए। कुलिन्द या कुणिन्दों की स्थिति हिमालय (अक्साइचीन) के आस-पास थी।

दक्षिणापथ की ओर जन्म लेने वाली अन्ध्रक, गुह, पुलिन्द, शबर, चूचुक एवं मद्रक (जाट) आदि सब जातियों की सत्ता त्रेतायुग से पहले नहीं थी।

---

१. वशिष्ठाश्रम—This hermitage was situated on the mount आबू in the अरावली range. कालिदास in his रघुवंश locates the hermitage of वशिष्ठ in the हिमालय (रघु० २।२६). It was visited by विश्वामित्र (Rāmāyaṇa 1|51| VV. 22–23).

B. C. Law : Historical Geography of Ancient India.

२. किरातांश्च पुलिन्दांश्च कुरून् सभरतानपि ।
पञ्चालकाशिमत्स्यांश्च मगधाङ्गांस्तथैव च ॥
ब्रह्मोत्तरांश्च वङ्गांश्च ताम्रलिप्तांस्तथैव च ।
एतान्जनपदानार्यान् गङ्गा भावयते शुभा ॥

—वायुपुराण ४७।४८—४९

३. किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसङ्कुलम् ।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम् ॥—महाभारत ३।१४०।२५

त्रेतायुग के आरम्भ से उक्त जातियाँ पनपीं[1]। शक, यवन, कम्बोज, द्रविड, कलिङ्ग, पुलिन्द, उशीनर, कोली, सर्प, महिषक आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं। (दूरदेश अथवा दुर्गम जंगली प्रदेशों में रहने के कारण) संस्कार-विधायक ब्राह्मणों के साथ साक्षात्कार न हो पाने से यह जातियाँ धीरे-धीरे यज्ञ आदि धर्मों से विहीन हो गयीं। ये लोग इतने खूंखार होते थे कि महाभारत काल के नृपति इन पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा इनसे पराजित होना श्रेयस्कर समझते थे[2]। जंगली वातावरण में ज्ञान का साधन न होने के कारण पुलिन्द तथा शबर जातियाँ यज्ञादि से एकदम शून्य थीं। महाभारत में यज्ञविहीन लोगों की नरकगमन की अनिवार्यता की उपमा पुलिन्द और शबरों से दी गयी है[3]। देवीभागवतपुराण में तो अन्न, आश्रम आदि नियमों के अभाव में सभी जातियाँ म्लेच्छ बतायी गयी हैं[4]।

इन धर्मविमुखों की इस क्रूरकर्मता से घबड़ाकर मान्धाता ने इन्द्र से प्रश्न

---

१. दक्षिणापथजन्मानः सर्वे नरवरान्ध्रकाः।
गुहाः पुलिन्दाः शबराश्चूचुका मद्रकैः सह ॥४२॥
नैते कृतयुगे तात! चरन्ति पृथिवीमिमाम्।
त्रेताप्रभृति वर्द्धन्ते ते जना भरतर्षभ! ॥४५॥
—महाभारत १२।२०७।४२,४५

२. शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥२१॥
द्रविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः।
कोलिसर्पा महिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥२२॥
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्।
श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर! ॥२३॥
—महाभारत १३।३३।२१—२३

३. नह्ययज्ञा अमुं लोके प्राप्नुवन्ति कथञ्चन।
आपातान् प्रतितिष्ठन्ति पुलिन्दशबरा इव॥
—महाभारत १२।१५१।८

४. अन्नानां नियमो नास्ति योनीनां च विशेषतः।
आश्रमाणां जनानां च सर्वे म्लेच्छाः कलौ युगे ॥५२॥
एवं कलौ संप्रवृत्ते सर्वं म्लेच्छमयं भवेत्।
हस्तप्रमाणे वृक्षे च अङ्गुष्ठे चैव मानवे ॥५३॥
—देवीभागवतपुराण ६।८।५२—५३

किया कि हम जैसे धार्मिक व्यक्ति दस्यु (त्व) जीवी इन पुलिन्द आदि जातियों को शासन में किस प्रकार रख सकेंगे ? और यह लोग किस प्रकार धार्मिक होंगे[1] ? इसके उत्तर में इन्द्र ने कहा—"समस्त दस्युओं को माता-पिता, आचार्य-गुरु, आश्रमवासी एवं राजाओं की शुश्रूषा करनी चाहिए। वेदोक्त धर्म और क्रियाएँ उनका धर्म होंगी। यथासमय पितृयज्ञ, कूपनिर्माण, प्याऊ, शय्यादान तथा अन्य दान ब्राह्मणों को करें। अहिंसा सत्य अक्रोध, वृत्तिदाय का अनुपालन, पुत्र-पत्नियों का भरण-पोषण, शौच और अद्रोह का आचरण करना चाहिए। उन्नति चाहने वाले सर्वयज्ञों की दक्षिणा दें। समस्त दस्युओं को अतिव्यय-साध्य भण्डारे (पाकयज्ञ) करने चाहिए। समग्र लोक द्वारा विधेय यही कर्तव्य कर्म पूर्वकाल में विहित किये गये[2] ।"

---

१. यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥१३॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥१४॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥१५॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद् ब्रवीहि मे ।
त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥१६॥

२. मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥१७॥
भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥१८॥
पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत् सदा ॥१९॥
अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥२०॥
दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥२१॥
एतान्येव प्रकाराणि विहितानि पुरानघ !
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ! ॥२२॥

—महाभारत १२।६५।१३—२२

महाभारत (वनपर्व) में पुलिन्दों को म्लेच्छ, मृषानुशासी, पापी तथा मृषावादपरायण विशेषण देकर, बताया गया है कि वे कलियुग में राज्य करेंगे[1]। श्रीमद्भागवत के अनुसार मगध में महाबलशाली विश्वस्फूर्जि (अथवा विश्वस्फाणि) शासक होगा। वह पुलिन्द, यदु तथा मद्रक वर्णों को प्रतिष्ठित करेगा। प्रजा को अब्रह्मभूयिष्ठ बनाकर प्रयाग पर्यन्त राज्य का उपभोग करेगा[2]। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार इस राजा को महाबलशाली विश्वस्फाणि बतलाया गया है। वह समस्त पार्थिवों को मारकर कैवर्त मद्रक पुलिन्द आदि वर्णों को राजा बनाएगा[3]। वायुपुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन आया है। केवल 'मद्रकांश्च' के स्थान पर 'पञ्चकांश्च' पाठभेद मिलता है। वहाँ उसे युद्ध में विष्णु के सदृश बलशाली बताया गया है[4]। उपर्युक्त तीनों पुराणों के साक्ष्य से इतना तो सिद्ध होता ही

---

१. ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे।
अजपा ब्राह्मणास्तात ! शूद्रा जपपरायणाः ॥३३॥
विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत्।
बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ! ॥३४॥
मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः।
अन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥३५॥
—महाभारत ३।१८८।३३—३५

२. मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः।
करिष्यत्यपरान् वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान् ॥३६॥
प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः।
वीर्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि ॥
अनुगङ्गमाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥३७॥
—श्रीमद्भागवत १२।१।३६—३७

३. मगधानां महावीर्यो विश्वस्फाणिर्भविष्यति ॥१६०॥
उत्साद्य पार्थिवान् सर्वान् सोऽन्यान् वर्णान् करिष्यति।
कैवर्तान् मद्रकांश्चैव पुलिन्दान् ब्राह्मणांस्तथा ॥१६१॥
—ब्रह्माण्डपुराण ३।७४।१६०—१६१

४. मागधानां महावीर्यो विश्वस्फाणिर्भविष्यति।
उत्साद्य पार्थिवान् सर्वान् सोऽन्यान् वर्णान् करिष्यति ॥

है कि उसकी छत्रच्छाया में पुलिन्द आदि जातियों का बोलवाला था। उक्त उल्लेखों से पुलिन्दों का मूल-स्थान मगध नहीं ठहरता।

ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार द्रविड, सिंहल, गान्धार, पारद, पह्लव, पवन, (यवन) शक, तुबर (तुषार), शबर, पुलिन्द, बरद (दरद) और वस (खस) नामक देश-वासियों को कल्कि दण्ड देंगे[1]। यह वर्णन वायुपुराण के वर्णन से कुछ हेरफेर करके प्रस्तुत किया गया है[2]।

कैवर्तान् पञ्चकांश्चैव पुलिन्दान् ब्राह्मणांस्तथा ॥३७८॥
विश्वस्फाणिर्महासत्त्वो युद्धे विष्णुसमो बली ॥

—वायुपुराण ९९।३७८—३७९

१. उदीच्यान् मध्यदेशांश्च तथा विन्ध्यापरान्तिकान्।
तथैव दाक्षिणात्यांश्च द्रविडान् सिंहलैः सह ॥१०७॥
गान्धारान् पारदांश्चैव पह्लवान् पवनाञ्छकान्।
तुवराञ्छवरांश्चैव पुलिन्दान् वरदान् वसान् ॥१०८॥ (अपपाठ)

—ब्रह्माण्डपुराण ३।७३।१०७—१०८

२. तथैव दाक्षिणात्यांश्च द्रविडान् सिंहलैः सह।
गान्धारान् पारदांश्चैव पह्लवान् यवनान् शकान् ॥१०७॥
तुषारान् वर्बरांश्चैव पुलिन्दान् दरदान् खसान्।
लम्पाकानन्ध्रकान् रुद्रान् किरातांश्चैव स प्रभुः ॥१०८॥

—वायुपुराण ९८।१०७।१०८

वनस्पर और पुलिन्द

वस्तुतः उक्त 'विश्वस्फाणि' ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। सारनाथ के दो शिलालेखों में वनस्पर[1] अथवा वनष्पर क्षत्रप का नाम उत्कीर्ण है। उक्त शिला-लेखों से ज्ञात होता है कि कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष वनस्पर उस प्रान्त का क्षत्रप था जिसके अन्तर्गत वाराणसी पड़ता था। इसी वनस्पर के वंशज बुन्देलखण्ड के वनाफर कहलाये। ये चन्देलों के समय तक अपनी वीरता एवं युद्धकौशल के लिए सुप्रसिद्ध थे। विश्वस्फाणि या विश्वस्फूर्जि **वनस्पर** या **वनष्पर** के अतिरिक्त कुछ नहीं। बुन्देलखण्ड में इन बनाफरों के नाम से एक बनाफरी बोली भी प्रचलित है। बनाफर राय आल्हा इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। महियर या मैहर की प्रसिद्ध शारदा देवी का मन्दिर आल्हा ने बनवाया था।

वनस्पर ने दीर्घकाल तक शासन किया। अतः उसका समय सन् ९० ई० से १२० ई० तक माना जा सकता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार विश्वस्फूर्जि ने अपना केन्द्र पद्मावती[2] में स्थापित किया था। मगध से लेकर प्रयाग-पर्यन्त अपने राज्य का विस्तार किया था। अन्त में समस्त बुन्देलखण्ड पर उसका आधिपत्य हो गया। उसने बिहार से मद्रकों (संभवतः जाटों) को भी बुन्देलखण्ड में बुलवाया। ये लोग मूलतः पंजाब के निवासी थे।

---

1. Two names found in the Sārnāth inscriptions, to which a considerable amount of interest attaches are Kharapallāna and vanaspara (or vanashpara)—P. 173.

'क्षत्रपेन वनस्परेन खरपल्लानेन च सहा च [तु] हि परिशाहि सर्वसत्वनं हितसुखार्त्थं'—१७६ पृष्ठ।

Is perhaps vanaspharena to be read ? The Bodhisattva inscription has clearly vanashparena (वनष्परेन).

—Epigraphia Indica, Vol. VIII, P. 173, 176.

२. 'पद्मावती का आधुनिक नाम, जिसे कनिंघम नरवर मानते हैं, पवाँया है। यह ग्वालियर रियासत के डभोरा स्टेशन से बारह मील पर है'—बुन्देल-खण्ड सं० इ०, १३ पृ०।

"उसने चकों तथा पुलिन्दों या चकपुलिन्दों अथवा पुलिन्द यवु लोगों को भी अपने यहाँ बुलाकर रखा था। संक्षेपतः उसने धन देकर भारत के एक भाग से दूसरे भाग में आदमियों को बुलाने की नीति का अवलम्बन किया था। चक-पुलिन्द वास्तव में शक-पुलिन्द हैं क्योंकि भारत में प्रायः शक से चक शब्द भी बना लिया जाता है। गर्ग संहिता[1] में इसी प्रकार किया गया है। उनके साथ यपु या यवु विशेषण लगाया जाता है और वे पुलिन्द-यपु या पुलिन्द-अब्राह्मणानाम् कहे गये हैं[2]। दूसरे शब्दों में यही बात यों कही जाती है कि **वे भारतीय पुलिन्द् नहीं थे** बल्कि अब्राह्मण और शक-पुलिन्द थे। ये लोग वही पालद (पारद) या पालद-शाक जान पड़ते हैं जिन्होंने स्वयं अपने सिक्के चलाने के कारण और समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त के सिक्कों को ग्रहण कर लेने के कारण[3] [अफ़गानिस्तान में उत्तरी पुलिन्द भी थे जो संभवतः आजकल पोविंदाह् कहलाते हैं—द्रष्टव्य मत्स्यपुराण ११३—४१] चौथी शताब्दी तथा पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था[4]।"

श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल के उक्त निर्देश भारतीय पुलिन्दों के अतिरिक्त विदेशी पुलिन्दों की भी सत्ता बतलाते हैं। पूर्वपृष्ठों में बतलाया गया है कि भारतीय पुलिन्द हेय दृष्टि से देखे जाते थे। उन्हें म्लेच्छ[5] और दस्यु कहा जाता था। गउडवहो के अनुसार वे विन्ध्याचल पर्वत में रहते थे[6]। उक्त ग्रन्थ में चित्रित विन्ध्यवासिनी का चित्र किसे 'ब्राह्मणानाम्' लगेगा ? इसी कारण विदेशिता जतलाना युक्तियुक्त नहीं होगा। उन्होंने वनस्फर (विश्वस्फाणि)

---

1. J. B. O. R. S.; vol. XIV, P. 408.
2. Pargiter : Purāṇa Text, P. 52.
3. J. B. O. R. S.; Vol. XVIII, P. 209.
४. काशीप्रसाद जायसवाल : अन्धकारयुगीन भारत, ७६ पृष्ठ।
५. अमरकोश की रामाश्रमी टीका (३४५ पृष्ठ) में उद्धृत श्लोक के अनुसार 'म्लेच्छ' की परिभाषा इस प्रकार है—

गोमांसभक्षको यस्तु लोकबाह्यं च भाषते।
सर्वाचारविहीनोऽसौ म्लेच्छ इत्यभिधीयते ॥

६. किं व सरूय-वरोच्चिय सेवा-निंदा-वरो व्व अह मग्गो।
जं महइ विन्झ-वण-गोयराण लोओ पुलिन्दाण ॥६४६।
भय-लोल-पुलिन्द-वहू-विरिक्क-गुञ्जावली-कण-कराला।
जाया से रोसाणल-फुलिङ्ग-भरियव्व-गिरिमग्गा ॥३५२।

का साथ दिया था संभवतः इसलिए जायसवाल जी ने लिखा है कि 'वे भारतीय पुलिन्द नहीं थे'। विदेशियों को सहयोग देने के कारण उनके साथ पुलिन्दों का उल्लेख भी विचारकों को भ्रम में डाल देता है।

वस्तुतः जिस 'पुराण टेक्स्ट्' के आधार पर जायसवाल जी ने 'पुलिन्द अब्राह्मणानाम्' लिखकर पुलिन्दों को शकपुलिन्द या विदेशी सिद्ध किया है उस ग्रन्थ में इस प्रकार का कोई वचन नहीं है। उक्त ग्रन्थ के बावनवें पृष्ठ पर छत्तीसवीं टिप्पणी में 'पुलिन्दाब्राह्मणान्' लिखा है। यह विष्णुपुराण के 'पुलिन्द-ब्राह्मणान्' (राज्ये स्थापयिष्यति) का पाठभेद है। ब्रह्माण्डपुराण (३।७४।१९१) और वायुपुराण (९९।३७९) के अनुसार "बनाफर(<विश्वस्फाणि) ने क्षत्रियों को छोड़ प्रायः समस्त जातियों को शासक बनाया। उसके साम्राज्य में पुलिन्द और ब्राह्मण भी भूपति थे" यह वर्णन स्पष्ट बतलाता है कि बुन्देलखण्ड में पुलिन्द, भारशिव और वाकाटक विन्ध्यशक्ति आदि ब्राह्मण (विश्वस्फाणि, तथा उसके वंशजों के आश्रित) शासक थे। बनाफर केवल क्षत्रियों से चिढ़ता था। श्रीमद्भागवत के 'प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः' के स्थान पर 'प्रजाश्चाधर्मभूयिष्ठाः' भी पाठ मिलता है। वहाँ 'ब्रह्म' का तात्पर्य ब्राह्मण नहीं किन्तु 'वेद' आदि है। बनाफर के शासन में प्रजा वैदिक अध्ययन से सर्वथा पराङ्मुख हो गयी थी। सम्भवतः वह पुराणों की कथाओं और अवैदिक देवी-देवताओं के पूजन को महत्त्व देने लगी थी।

बनाफर को अधार्मिक और ब्राह्मणद्वेषी बतलाना नितान्त असंगत होगा। उसने क्षत्रियों का नाश करके अन्य वर्णो को क्षत्रिय बनाया; और देव, पितर तथा ब्राह्मणों की पूजा की। जाह्नवी के तट पर शरीर छोड़ा एवं इन्द्रलोक को गया। यदि वह अधार्मिक होता तो न तो ब्राह्मणों को राजा बनाता और न देव, पितर तथा ब्राह्मणों की पूजा ही करता।

'पुलिन्दयवु' नामक कोई जाति नहीं थी। पुराण टेक्स्ट् के बावन पृष्ठ की पैंतीसवीं टिप्पणी में 'यद्र', 'यद्रु' (अथवा पद्रु) और 'पुलिन्दायवु' पाठभेद लिखे हैं। उक्त पाठभेद 'करिष्यत्यपरान् वर्णान् पुलिन्द-यदु-मद्रकान्' (भागवत १२।१।३६) श्लोक के 'पुलिन्द-यदु' के स्थान पर दिखलाये गये हैं। पुलिन्द और यदु या यद्रु दो शब्द हैं एक नहीं। यदि वे दोनों एक मान लिये जाएँ तो 'पुलिन्द-यदु-मद्रकान्' में बहुवचन संगत न हो सकेगा। यदि इनमें से प्रत्येक शब्द बहुवचनान्त मान लिया जाए तो भी 'पुलिन्दायवु' पाठ है पुलिन्दयवु नहीं। वस्तुतः अन्य पुराणों के श्लोकों के साथ तुलना करने पर सुस्पष्ट तीन शब्द प्रतीत होते है दो नहीं। महाभारत (३।१८८।३५) के 'अन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च' में

शक और पुलिन्दों का एक साथ पढ़े जाने के कारण (दोनों का) एक शब्द बनाकर 'शकपुलिन्द' को एक विदेशी जाति के रूप में उपस्थापित करना सध्रीचीन नहीं होगा। पारद और पुलिन्द भिन्न-भिन्न थे (महाभारत ६।८७।७)।

समष्टितः पुलिन्द शब्द का अपभ्रंश बुन्देल या बुन्देला शब्द है। संस्कृत में देशवाचक शब्दों का बहुवचनान्त प्रयोग इसलिए किया जाता है क्योंकि वे शब्द मनुष्यों (जाति) के भी बोधक होते हैं। बुन्देला क्षत्रिय जाति है। इसके क्रोधी स्वभाव को लक्ष्य में रखकर इसे चण्डाल कहा गया है[1]। क्रोधप्रकृति के ही कारण दुर्गा को (रण) चण्डी का नाम दिया गया था। अब भी क्रोधी स्त्री को चण्डी (चण्डालिन) और क्रोधी पुरुष को चण्डाल या चण्डार (बुन्देली०) कहा जाता है। चोर-डाकुओं का प्रावल्य होने के कारण इस समस्त प्रदेश का छत्रिन्यायेन दस्यु के नाम से स्मरण किया गया है। श्रीमद्भागवत ('पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन' १०।२१।१७ तथा 'पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः' १०।८३।४३) के अनुसार श्रीकृष्ण के समय पुलिन्दों की स्त्रियाँ (आरण्यकस्त्रियः—वीरराघवाचार्यः) व्रज में आती रहती थीं। श्रीधरस्वामी ने इन्हें 'शबराङ्गनाः—१०।२१।१७, तथा श्री सुदर्शन सूरि ने 'वनचरस्त्रियः' (१०।२१।१७) कहा है।

बुन्देलखण्ड की कंजर जाति चौर्य-कार्य में अधिक अग्रसर है। अभी २५ जून १९६४ को इन लोगों ने छतरपूर जिले की विजावर तहसील की अनाजमण्डी की दूकानें दिन-दहाड़े लूट ली थीं। यद्यपि कंजर शब्द की व्युत्पत्ति काननचर शब्द से बतायी जाती है तथापि कालञ्जर>काञ्जर>कञ्जर शब्द-संबन्ध मननीय है। इसी प्रकार दक्षिणपश्चिमी बंगाल की पोदा जाति पौण्ड्र का अपभ्रंश है पुलिन्द का नहीं। पुलिन्द ताम्रलिप्ति तक लूटपाट करते थे (सार्थवाह, १३५ पृष्ठ)।

---

१. √चण्ड (चडि) १।२७६ कोपे (प); चण्ड् १।१७४ तैक्ष्ण्ये (प)—काशकृत्स्न (द्र० हमारा ग्रन्थ 'धातुपाठसमीक्षा')।

2. The Paundras (पौण्ड्र) are linked with the Udras, Utkalas, Mekalas, Kalingas and Andhras. (वनपर्व Li, 1988; भीष्मपर्व IX, 365; द्रोणपर्व 4, 122). Thus the Paundras dwelt in and to the W. and SW. of Bengal Proper i. e., the modern districts of Santal Paragana and Birbhum and N. Portion of Hazaribag (Pargiter)—Cunningham's Ancient Geography of India. (मजुमदार की टिप्पणी)

जिझौति या जझौति

कालञ्जर के साथ चन्देलों का भी पर्याप्त संबन्ध रहा है। जिझौति देश के प्रसङ्ग के कारण यहाँ इन लोगों का उल्लेख आवश्यक हो गया है। इतिहासवेत्ता 'जिझौति' को बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम बताते हैं। अलबरूनी की भारत यात्रा के आधार पर कनिंघम ने 'जझौति' को चन्द्रात्रेय या चन्देलों का राज्य बताया है। इस राज्य की राजधानी महोबा (<महोत्सवनगर) और खजुराहो (<खर्जूरवाहः) थे[1]।

जो देश चन्देलों के अधिकार में रहा वह धसान नदी के पूर्व में और विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में था। उत्तर में वह यमुना नदी तक और दक्षिण में केन नदी के उद्गम स्थान तक फैला था। केन नदी इस देश के मध्य से बहती है। महोबा तथा खजुराहो इसके पश्चिम में और कालञ्जर तथा अजयगढ़ इसके पूर्व में हैं। इस प्रदेश में आजकल के बाँदा और हमीरपुर जिले तथा चरखारी छत्रपुर, विजावर, जैतपुर, अजयगढ़ और पन्ना की रियासतें हैं। चन्देल राजाओं ने अपनी उन्नति के दिनों में इस प्रान्त की सीमा पश्चिम में बेतवा नदी तक बढ़ा ली थी[२]। बुचनन् की सूचना के अनुसार कनिंघम ने लिखा है कि जहाँ-जहाँ तक जझौतिया ब्राह्मण फैले हैं वहाँ तक जझौति देश जानना चाहिए। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इन्हीं लोगों के नाम पर इस देश का नामकरण हुआ[3]। इसी सीमा में चन्देली के आसपास जझौतिया बनियाँ

---

1. Epigraphia Indica Vol. I, P. 218. (Cunningham's Ancient Geography of India)

२. गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ४१, ४२.

3. But these are also the limits of the ancient country of the Jajhotia Brahmans, which according to Buchanan's information extended from the Jumna on the North to the Narbada on the south, and from Urcha (ओरछा) on the Betwa river in the west, to the Bundel Nal ? (Khand) on the east. The last is said to be a small stream which falls into the Ganges near Banaras and within two stages of मिर्जापुर during the last twenty five years I have traversed this tract of

भी मिलते हैं। अतः कन्नौज (<कान्यकुब्ज) से कनवजिया, गौड़ देश से गौड़, सरयूपार से सरबरिया, द्रविड़ से द्राविड़ और मिथिला से मैथिल के समान जझौति से जझौतिया ब्राह्मण आदि का नाम पड़ा यजुर्होता (या यजुर्होत्री) के कारण नहीं[1]।

कहा जाता है कि चन्देलों के इस प्रान्त का नाम (जयशक्ति>) जेजा के नाम पर जेजाभुक्ति या जेजाकभुक्ति पड़ा था। जेजा (<जयशक्ति) वाक्पति (विक्रम संवत् ९९२) का ज्येष्ठ पुत्र था। इसके छोटे भाई का नाम विजयशक्ति

---

country repeatedly in all directions, and I have found the ajhotiya Brahmans distributed over the whole province, but not a single family to the north of Jumna or to the west of the Betwa.

—A. Cunningham : The Ancient Geography of India, P. 481.

1. ···In Chanderi itself, there are also Jajhotiya Baniyas, which alone is almost sufficient to show that the name is not a common family designation, but a descriptive term of more general acceptance. The Brahmans derive the name of Jajhotiya from Yajur-hota, an observance of the Yajurveda, but as the name is applied to the Baniyas or grain-dealers, as well as to the Brahmans. I think it almost certin that it must be a mere geographical designation derived from the name of their country, Jajhoti. This opinion is confirmed by other well-known names of the Brahmanical tribes, as Kanojiya from Kanoj; Gaur from Gaur; Sarawariya or Sarajuparia from Sarjupar. Dravir from Dravira in the Dakhan, Maithil from Mithila etc. These examples are sufficient to show the prevalence of geographical names amongst the divisions of the Brahmanical tribes, and as each division is found most numerously in the province from which it derives its name. I conclude with some certainty that the country in which the Jajhotiya Brahmans prepondarate must be the actual province of Jajhoti.

—A. cunningham : The Ancient Geography of India, P. 552-553(Edited by S. M. Shāstri M.A.)

(>विज्जाक) था। शिलालेखों में नन्नुकदेव (वि० सं० ८५७) से पहले के राजाओं का कोई वर्णन नहीं मिलता। ह्वेनत्सांग (सातवीं शताब्दी) के समय यह देश जझौति नाम से प्रसिद्ध था। अतः जेजा के साथ इसका संबन्ध जोड़ना कहाँ तक उचित होगा? कुछ लोगों का यह भी कथन है कि वैदिक काल में यजुर्वेद कर्मकाण्ड का पहले पहल यहीं अभ्युदय हुआ था। फलतः यह प्रदेश यजुर्होति कहलाया जिससे विगड़कर जोजभुक्ति बना[1]। दुर्जनतोषन्यायेन यदि यह मत किसी प्रकार मान भी लिया जाए तो भी भाषाविज्ञान के नियम इसमें प्रबल विसंवाद उपस्थित करते हैं। यद्यपि गुहा और सिंह शब्दों के हकार का विकास गुफा तथा सिंघ के 'फ' एवं 'घ' में संभव है तथापि होति का विकास भुक्ति के रूप में होना नितान्त असमर्थ है। भुक्ति का विकसित रूप 'होति' हो सकता है।

स्कन्दपुराण के अनुसार इस देश का नाम जजाहुति था[2]। उस समय देश

---

१. बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, ४२ पृष्ठ।

२. कामरूपे च ग्रामाणां नव लक्षाः प्रकीर्तिताः।
डाहले वेदसंज्ञे तु ग्रामाणां नवलक्षकम्॥
नवैव लक्षा ग्रामाणां कान्तिपुरे प्रकीर्तिताः।
नव लक्षास्तथा चैव माचिपुरे प्रकीर्तिताः॥
ओड्डियाणे तथा देशे नव लक्षाः प्रकीर्तिताः।
जालंधरे तथा देशे नव लक्षाः प्रकीर्तिताः॥
लोहपुरे तथा देशे लक्षाः प्रोक्ता नवैव च।
ग्रामाणां सप्तलक्षं च पाम्बीपुरे प्रकीर्तितम्॥
ग्रामाणां सप्तलक्षं च रटराजे प्रकीर्तितम्।
हरीआले च ग्रामाणां लक्षपञ्चकसंमितम्॥
सार्धलक्षत्रयं प्रोक्तं द्रडस्य विषये तथा।
सार्धलक्षत्रयं प्रोक्तं तथा वम्भणवाहके॥
एकविंशतिसाहस्रं ग्रामाणां नीलपूरके।
तथामलविषये पार्थ ग्रामाणामेकलक्षकम्॥
नरेन्दुनामदेशे तु लक्षमेकं सपादकम्।
अतिलाङ्गलदेशे च लक्षः प्रोक्तः सपादकः॥
लक्षाष्टदशसाहस्रं नवती द्वे च मालवे।
सयम्भरे तथा देशे लक्षः प्रोक्तः सपादकः॥

या राज्य अर्थ में भुक्ति शब्द का प्रयोग चल पड़ा था—मद्दुकभुक्ति[1]। जिस प्रकार मिथिला का नाम तीरभुक्ति > तिरहुत था उसी प्रकार कुछ समय के लिए पुलिन्द देश का नाम जेजा(क) भुक्ति > जजाहुति > जझौति > जिझौति हो गया। हाँ, यजुर्भुक्ति शब्द से जजाहुति, जझौति, जिझौति या जुझोति आदि समस्त विकास शक्य हैं; पर ऐतिहासिक प्रयोगों के प्रमाणाभाव में यह स्वीकार्य नहीं। स्कन्दपुराण का जजाहुति नाम संस्कृत नहीं है। इस पुराण में मेवाड़, ओड्डियाण, पांबीपुर, हरीआल, वंभणवाहक आदि देशों के नाम निश्चयत: देशभाषा की ओर इङ्गित करते हैं। चेदि (=डाहल) एवं पुरातन पुलिन्द आदि देश सटे थे। फलत: कभी कभी परस्पर विजित होने के कारण एक हो जाते थे। अत: उनका सीमानिर्धारण आज कठिन हो गया है। इसी भ्रान्ति के कारण कुछ लोग बुन्देलखण्ड को चेदि कह देते है। यह निर्विवाद है कि चेदि का कुछ अंश बुन्देलखण्ड में संमिलित था। इन देशो का पार्थक्य महाभारत में दोनों के पृथक्-पृथक् वर्णन से ज्ञात होता है। चेदि तथा पुलिन्द देश वहाँ अलग बताये गये है। इसी प्रकार स्कन्दपुराण के प्रस्तुत वर्णन में भी डाहल (=चेदि) और जजाहुति (बुन्देलखण्ड) को पृथक्-पृथक् बताया है। जजाहुति की ग्रामसंख्या[2] बयालीस

मेवाडे च तथा प्रोक्तो लक्षश्चैकः सपादकः।
अशीतिश्च सहस्राणि वागुरिः परिकीर्तितः॥
ग्रामसप्ततिसाहस्रो गुर्जरात्रः प्रकीर्तितः।
तथा सप्ततिसाहस्रः पाण्डोर्विषय एव च॥
जहाहुति (:) सहस्राणि द्वाचत्वारिंशदेव च।
अष्टषष्टिसहस्राणि प्रोक्तं कश्मीरमण्डलम्॥

—स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड ३९ अध्याय, १३१—१४२ श्लोक (मनसुखराय मोर संस्करण)

1. It may possibly be identified with Mhow, the well-known cantonment near इन्दोर (E. I. XXIII, pt. iv.)

—B. C. Law : Historical Geography of Ancient India.

२. कुछ विद्वान् 'ग्राम' का अर्थ 'ग्राम की आय' इसलिए करते हैं क्योंकि एक जिले में इतने ग्रामों की स्थिति संभव नहीं है। प्रसङ्ग देखने पर यह शब्द सुस्पष्टत: गाँव का वाचक मालूम पड़ता है। स्कन्दपुराणोक्त मेवाड़ प्रान्त में सवा लाख और जजाहुति (बुन्देलखण्ड) प्रान्त में बयालीस हजार ग्राम किसे अमान्य होंगे? यह नाम जिलों के नहीं किन्तु प्रान्तों के वाचक हैं। उस समय उनकी विस्तीर्णता आजकल के जिलों से अधिक और

हजार और डाहल देश की नौ लाख वर्णित है। स्कन्दपुराण के उक्त वर्णन में कुछ अपभ्रंश (प्राकृत) नामों को संस्कृत बनाने का प्रयत्न किया गया है—
गुर्जर + सौराष्ट्र > गुर्जरात्र > गुजरात।

जहाहुति[1] शब्द पर विचार करने पर उसकी पुरातनता स्कन्दपुराण के निर्माण से बहुत पहले की प्रतीत होती है। संस्कृत के किस शब्द का यह विकसित रूप होगा और उसे इस विकास तक पहुँचने में कितने वर्ष लगे होंगे यह विवेचनीय है। यद्यपि कुछ विद्वानों के मत से बुन्देलखण्ड का यह नाम ययाति के नाम पर चल पड़ा था—ययातिभुक्ति > जजाइहुति > जजाहुति > जझौति या जिझौति तथापि साक्ष्यों के अभाव में इसे मान्यता देना सङ्गतिकर नहीं होगा।

निष्कर्षतः जजाहुति जझौति जिझौति या जुझौति नाम कितना ही पीछे क्यों न खींचा जाए, 'पुलिन्द' से प्राचीन नहीं हो सकता। ऐतरेय ब्राह्मण के पुलिन्द और महाभारत के पुलिन्द देश से पुरातन स्कन्दपुराण का जजाहुति भला कैसे हो सकेगा !!
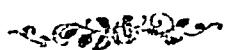
प्रान्तों से कुछ कम रहती थी। यदि पाम्वीपुर, <पद्मावती (ग्वालियर रियासत के डभोरा स्टेशन से बारह मील) को माना जाए तो कान्तिपुर > कुतवार (अहसन नदी के तट पर, ग्वालियर से बीस मील) के नौ लाख ग्राम विचारणीय होंगे।

१. जेजाभुक्ति—the ancient name of बुन्देलखण्ड, the kingdom of the चन्द्रात्रेयस् or the चन्देलस्. Its capitals were महोबा and खजुराह (Epigraphia Indica Vol. I, P. 218). कालिञ्जर was the capital of the चन्देलस् after it had been conquered by यशोवर्मन्. The name was corrupted into जहाहुति (Alberuni's India, Vol. I, P. 202) and जझौति.

cunningham's Ancient Geography of India, P. 481.

चेदि अथवा डाहल

शिलालेख आदि में 'बुन्देलखण्ड' का नाम जेजाकभुक्ति (>जिझौति) बताया गया है। अजयगढ़ शिलालेख के अनुसार बुन्देलखण्ड में शबर, भिल्ल और पुलिन्दों की प्राथमिक स्थिति की प्रामाणिकता सिद्ध है। कुछ विद्वान् इस प्रदेश को पुरातन चेदि-देश बताने का प्रयत्न करते हैं[1]। हमें उस पर थोड़ा-सा विचार करना है।

स्थूलत: सभी प्राचीन देशों के नाम आज भी विकसित रूपों में विद्यमान हैं। उन्हें स्मृत रखने के लिए यदि शिलालेख और अन्य वाङ्मय आदि के प्रमाण नहीं भी हों तो भी जनता की जीभ (जनश्रुति) पर्याप्त है। कान्यकुब्ज देश ने आज 'कन्नौज' का चोला पहन रखा है। अत: विद्वानों ने चेदीश या चेदिदेश के विकास की संभावना छत्तीस [गढ़] में की[2]।

यह बात भिन्न है कि चेदि-राजाओं ने इस भूभाग पर बहुत पहले आक्रमण किया हो। निश्चयत: यह प्रदेश चेदीशों के अधिकार में नहीं रहा। कुछ समय तक कालञ्जर अवश्य उनके अधीन था। चेदि देश प्रयाग-जिझौति से दक्षिण और पूर्व में फैला था। इसका विस्तार उत्तरी बुन्देलखण्ड में दमोह (सागर

---

१. "आधुनिक बुन्देलखण्ड का दक्खिनी अंश उसमें कब से सम्मिलित हुआ है उसका कोई निर्देश मुझे नहीं मिला; किन्तु बोली की एकता सिद्ध करती है कि चेदि लोग बहुत आरम्भिक काल में ही जमना-काँठे से दूर दक्खिन तक समूचे बुन्देलखण्ड में फैल गये। मध्यकाल में दक्खिनी बुन्देलखण्ड में जबलपुर के उत्तर तिवर या त्रिपुरा में एक हैहय राज्य था, जो चेदि कहलाता था। यदि यह दक्खिनी बुन्देलखण्ड शुरू से चेदि में संमिलित न भी रहा हो तो मध्यकाल में उसका चेदि नाम पड़ जाने का एक यह कारण हो सकता है कि त्रिपुरा के राज्य ने कालिंजर का किला और उसके साथ समूचा उत्तरी बुन्देलखण्ड, जो प्राचीन चेदि था, जीत लिया था। जो भी हो उस समय से समूचे बुन्देलखण्ड का नाम चेदि है।"

—जयचन्द्र विद्यालङ्कार : भारतभूमि और उसके निवासी, २०६ पृष्ठ।

२. "कोई-कोई विद्वान् प्राचीन 'चेदीश दुर्ग' ही को 'छत्तीसगढ़' का पूर्व रूप मानते हैं।"

—व्योहार राजेन्द्र सिंह : त्रिपुरी का इतिहास, १३ पृष्ठ।

जिला) तक था। विन्सेण्ट ए. स्मिथ के अनुसार 'बुन्देलखण्ड से दक्षिण का प्रान्त, जो आजकल मध्यप्रदेश के चीफ कमिश्नर के शासन में है, करीब-करीब पुरातन चेदि देश ही है[१]।' विन्सेण्ट साहब ने जिझौति (बुन्देलखण्ड) से चेदि को बिलकुल पृथक् बताया है[२]। राजा धङ्ग के राज्यकाल में जिझौति की सीमा चेदि देश तक बतायी गयी है[3]।

पुलिन्ददेश अटवी-राज्य था। इसी कारण नृपति पुलिन्दों पर विजय पाने की अपेक्षा उनसे पराजित होना श्रेयस्कर समझते थे। यद्यपि अनेकधा पुलिन्ददेश का नाम मिटाने का प्रयत्न किया गया तथापि पुलिन्दों की क्रान्तिकारिता और लड़ाकूपन ने उसे जीवित रखा। द्वितीय कारण, चेदि और कारूष से उसकी पुरातनता है। वाल्मीकीय रामायण में सुग्रीव ने देश-देशान्तरों का वर्णन करते समय चेदि और कारूप देशों की चर्चा नहीं की (द्रष्टव्य किष्किन्धाकाण्ड ४०-४३ अध्याय, गीता-प्रेस संस्करण)। वहाँ पूर्व दिशा के स्थानों के वर्णन-प्रसङ्ग में ब्रह्ममाल, विदेह, मालव, काशी, कोसल, मागध महाग्राम, पुण्ड्र और अङ्ग देशों का नामोल्लेख किया गया है। दक्षिण दिशा में मेखल, उत्कल, दशार्ण नगर, विदर्भ, ऋष्टिक,

---

1. The extensive region, farther to the south, which is now under the administration of the chief commissioner of the central provinces, nearly corresponds with the old kingdom of Chedi.

—Vincent A. Smith : The Early History of India, P. 310.

2. The ancient name of the province between the Jumna and Narmada, now known as Bundelkhand, and partly included in the united provinces of Agra and Oudh, was Jejakabhukti.

—Vincent A. Smith : The Early History Of India, P. 310.

३. आकालञ्जरमा च मालवनदीतीरस्थिताद् भास्वतः
कालिन्दीसरितस्तटादित इताप्याचेदिदेशावधेः।
[आ तस्मादपि ?] विस्मयैकनिल [या] द् गोपाभिधानाद् गिरे-
र्यः शास्ति क्षि [ति] मायतोर्जितभुजव्यापारलीलार्जि [ताम्] ॥४५॥
संवत्सरदशशतेषु एकादशाधिकेषु संवत् १०११ उत्कीर्णा चेयं रू [पका]
र.................. ...।

—Khajuraho Inscription No II (Epigraphia Indica, Vol. I, P. 126)

माहिषक, वङ्ग, कलिङ्ग, कौशिक और दण्डक अरण्य की चर्चा की गयी है। पश्चिम दिशा में सौराष्ट्र, वाह्लीक और चन्द्रचित्र देश वर्णित हुए हैं। उत्तर दिशा में म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, भरत, कुरु, मद्रक, काम्बोज, यवन, शकों के पत्तन, दरद और हिमालय का शृङ्खलाबद्ध वर्णन हुआ है। चेदि कहाँ गये !

वस्तुतः यह चेदि नाम शिशुपाल के पितामह चिदि के नाम पर पड़ा था। महाभारत (६।४२।४०) में पुलिन्दों के अनन्तर 'चेदि-मत्स्य-करूषाश्च' आया है। बाद में इन्हीं हैहयवंशी क्षत्रिय राजाओं ने नर्मदा तटवर्ती डाहलमण्डल, कर्णाट आदि पर अपना अधिकार जमाया। रायबहादुर श्रीहीरालाल के अनुसार 'हैहय अथवा कलचुरि नरेशों का राज्य चेदि नाम से चलता था और आसपास की जो भूमि राज्य में आती जाती थी वह चेदि में समाती जाती थी। जैसा कि वर्तमान समय ब्रिटिश भारत में हो रहा है। महाकोसल चेदिराज्य का एक भाग था जिसमें कलचुरि वंश के माण्डलिक त्रिपुरी-नरेश के अधीन राज्य करते थे[1]।'

यद्यपि ऋग्वेद में 'चेदयः' राज-विशेष तथा अपत्यार्थक 'चैद्यः' का उल्लेख आया है[2] तथापि वहाँ उक्त शब्द जातिविशेष का सूचक है प्रान्त का नहीं। बुन्देलखण्ड से दक्षिण और पूर्व का प्रदेश यादव-वंशी राजाओं के अधिकार में था। इनकी राजधानी माहिष्मती थी। कौरवों की ओर से माहिष्मती और अवन्ति के राजा लड़ रहे थे। कुछ विद्वान् ओंकार-मान्धाता (निमाण जिला) को और अन्य विद्वान् वर्तमान मण्डला शहर को प्राचीन माहिष्मती मानते हैं (द्र० एन्श्यण्ट ज्याग्रॉफी ऑव् इण्डिया, ५५९ वाँ पृष्ठ)। इसका मूल नाम महिष्मती-मण्डल या महेशमण्डल रहा होगा जो अब 'मण्डला' रह गया (द्र० कनिंघम का 'ए टूर् इन् सी० पी० एण्ड् बरार, १८८१–८२, ५४ पृ०)। प्रसिद्ध पराक्रमी सहस्रार्जुन यहीं राज्य करता था। इसका वंश हैहय के नाम से प्रख्यात हुआ। महाभारत के समय में इनका राज्य बहुत विस्तीर्ण हो गया था। मल्कापुरम् के शिलालेख[3] के अनुसार भागीरथी और नर्मदा के मध्य भाग को डाहल मण्डल बताया गया है।

---

१. त्रिपुरी का इतिहास, भूमिका, पन्द्रहवाँ पृष्ठ.

२. चेदयः—ऋ० ८।५।३६ (राजविशेष)।
चैद्यः—ऋ० ८।५।३७.
चैद्यस्य—" ८।५।३८ (अपत्यार्थक ण्य प्रत्यय)।

३. 'अस्ति विश्वम्भरासारः कमलाकुलमन्दिरम्।
भागीरथीनर्म्मदयोर्मध्यं डाहलमण्डलम् ॥

ग्यारहवीं शताब्दी से चेदिदेश दो राज्यों में विभक्त हो गया था। पश्चिमीय चेदि (= डाहल) की राजधानी त्रिपुरी (>तेवर) थी तथा पूर्वीय चेदि या महाकोसल की राजधानी रत्नपुर थी[1]। विन्सेन्ट ए० स्मिथ महोदय का यह विवरण बताता है कि चेदिदेश छत्तीसगढ़ तक निर्विवादरूपेण फैला था। डाहल और महाकोसल उसके पश्चिमीय तथा पूर्वीय भाग-मात्र थे। विस्तृत ज्ञातव्यता के लिए देखिए 'महाकोसल[2] अथवा छत्तीसगढ़'।

बुद्धकाल में चेदि, चेति या चेतिय नाम से भी प्रसिद्ध था। टॉड (राजस्थान, I, 43 note) इसे चन्देरी (ग्रीकों की चन्द्रावती या सन्द्रावती) बताते हैं। यह शिशुपाल की राजधानी थी। इसके भग्नावशेष ललितपुर से अट्ठारह मील पश्चिम में स्थित आधुनिक चन्देरी से आठ मील उत्तर-दक्षिण में पाये जाते हैं। यह 'आइन्-इ-अकबरी' में दुर्गयुक्त सुविशाल प्राचीन नगरी के रूप में वर्णित है। डॉ० फ्यूरर्, जनरल् कनिंघम और डॉ० ब्यूलर् के अनुसार डाहल मण्डल (नर्मदा तट पर) अथवा बुन्देलखण्ड पुरातन चेदि था। गुप्त राज्य में कालञ्जर चेदि की राजधानी था। महाभारत के समय इसकी राजधानी शुक्तिमती थी। जबलपुर से तेरह मील दूर अवस्थित तेवर (<त्रिपुरी) भी इसकी राजधानी रही[3]।

शुक्तिमती नदी कोलाहल पर्वत तथा चेदि की पुरानी राजधानी (आधुनिक बुन्देलखण्ड) से होकर बहती है। (महाभारत, आदि पर्व ६३ वाँ अध्याय)। जनरल कनिंघम् इसे महानदी (कटक, छत्तीसगढ़) और बेग्लर महोदय सक्रि (बिहार) बताते हैं[4]। पार्जिटर[5] इसे केन (<कर्णवती) नदी मानते हैं। यह पन्ना और बिजावर के मध्यवर्ती पहाड़ों से होती हुई बुन्देलखण्ड में बहती है। शुक्तिमती का अपभ्रंश केन नहीं हो सकता। बुन्देलखण्ड में शुक्तिमती से साम्य रखने वाला कोई नगर भी नहीं है। यह 'सक्ति' से मेल खाता है। सक्ति बिलासपुर से दक्षिणपूर्व में स्थित है। हैहयों का प्राचीन राज्य भी इसी ओर रहा।

उक्त समस्त मत-मतान्तर साधित करते हैं कि ललितपुर और टीकमगढ़ क्षेत्र भी कभी चेदियों की राजधानी रहे। बाद में वे कालञ्जर तक बढ़ गये। पुलिन्दों

---

1. Vincent A. Smith : The Early History Of India, P. 390.

2. Archæological Survey Of India Reports, Vol. XVII, P. 68–87.

3–4. Nundo Lal Dey : The Geographical Dictionary.

5. J. A. S. B. 1895, I, P. 255.

का अजयगढ़ की ओर छोटा सा राज्य था। उस समय बड़े बड़े साम्राज्यों में उसकी गणना नहीं होती थी। महाभारत-काल में यह प्रदेश पुलिन्ददेश के रूप में प्रख्यात था। इस प्रदेश में चेदीशों का राज्य बहुत परवर्ती है। उनका सुपुरातन राज्य तो नर्मदा के तट पर था। यदि चेदि राज्य कार्तवीर्य के माहिष्मती मण्डल से पूर्ववर्ती होता तो शिलालेखों में इस प्रकार के उल्लेख अवश्य मिलते। जाजल्ल-देव के रत्नपुर-शिलालेख में कार्तवीर्य को प्रथम शासक बतलाया गया है। पश्चात् उसके वंश में हैहय हुआ और उसी के नाम पर पश्चाद्वर्ती समस्त वंशज हैहय कहलाये। उन्हीं हैहय राजाओं के वंश में श्री कोक्कल्लदेव चेदीश्वर हुआ। उसके पुत्रों में से बड़ा पुत्र त्रिपुरीश हो गया और उसने शेष भाइयों को मण्डलपति बना दिया। तदनन्तर हैहयों का राज्य कलिङ्ग और दक्षिणकोसल, तुंमाण (राज-धानी) तक फैल गया[1]। इस वंश के महीपति शैव धर्म मानते थे। वे शिव के सिर पर स्थित चन्द्रमा से अपने वंश की उत्पत्ति बतलाते हैं। इसी शिलालेख में

---

१. [ओम्..... ॥ शशि ?] शकल-कला [क्] इ [म् ...न्]-आमृताम्भः प्लवबहलित-नीर-स्वर्ण [दी-तीर]-वृत्ति। किमु बत शफरीति स्वः-श्रि [ता ?]...शिरसि यस्य स्यादीशः शिवाय ॥१॥

एतद् यत् परमं विहन्तृ तिमिरं त्रैलोक्य-नेत्र-द्युति-
ज्योतिस्तत्पुरुषं [षाः] सुधाकर इति प्राहुस्तमन्तर्...।
...[जो] न चरमः साम्राज्य सू [त्र] ॰ यतः
[क्षा] त्रस्यादि तदन्वये समभवच्छ्री-कार्तवीर्यः क्षितौ ॥२॥
तद्वंश्यो हैहय आसीद् यतो जायन्त हैहयाः।
............त्यसेनप्रिया सती ॥३॥

तेषां हैहय-भूभुजां स [मभ] वद् वंशे चेदीश्वरः
श्री-कोक्कल्ल इति स्मरप्रतिकृतिर्विश्वप्रमोदो यतः।
तेनायं त्रितसौ [र्य ?]............मेन मातुं यशः
स्वीयं प्रेषि [त उ] च्चकैः कियदिति ब्रह्माण्डमन्तः-क्षिति ? ॥४॥
अष्टादशास्य-रिपु-कुम्भि-विभङ्ग-सिंहाः पुत्रा बभूवुरभिवर्द्धित...।
तेषामथाग्रजसुतस् त्रिपुरीश आसीत्
शेषांश्च मण्डल-पतीन् स चकार बन्धून् ॥५॥

(Epigraphia Indica, Vol. I, P. 34)

रत्नेश के पुत्र जाजल्लदेव[1] (संवत् ८६६) ने कान्यकुब्ज महीप (गोविन्दचन्द्र[2]) और जेजाभुक्तिक-नृप (कीर्तिवर्मदेव[3] ?) के साथ अपनी मैत्री का उल्लेख कराया है। उस समय चेदि (त्रिपुरी) का शासक यशःकर्ण अथवा गयकर्ण था।

इस क्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात यह है कि हैहय-वंशीय राजाओं के शिलालेखों में 'पुलिन्दों' का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। यदि वे पुलिन्द देश (जेजाकभुक्ति और अब [उत्तरी] बुन्देलखण्ड) के शासक होते तो निश्चयतः उनकी मुठभेड़ पुलिन्दों से हुई होती। चन्देलवंशीय राजाओं की उनसे शताब्दियों तक मुठभेड़ होती रही। पर उन्होंने इस बात का उल्लेख शिलालेखों में तब तक नहीं कराया जब तक पुलिन्दों पर विजय प्राप्त नहीं कर ली। ध्यान रहे, शिलालेखों में पराजय की चर्चा नहीं रहती। वे तो विजेताओं के विजय-चिह्न या गौरव-गाथा के संकीर्तक होते हैं। कई शताब्दियों के अनन्तर त्रैलोक्यवर्मा के समय उनके छोटे भाई आनन्दवर्मा पुलिन्दों को वशीभूत कर सके। अजयगढ़ के शिलालेख में इसकी चर्चा की गयी है[4]।

संक्षेपतः हैहय सीधे दक्षिण की ओर उतरते चले गये और समस्त दक्षिण कोसल (या महाकोसल) पर छा गये। रत्नपुर (विलासपुर) के आसपास का समस्त भूभाग उनके अधीन हो गया। उधर उड़ीसा तक उन्होंने आधिपत्य स्थापित कर लिया। उनके द्वारा विजित क्षेत्रों में कहीं भी पुलिन्द जाति या देश रहा होता तो उस पर विजय पाने की चर्चा शिलालेखों में अवश्य मिलती। हैहयों के उत्तराधिकारी चेदीश उत्तर में ललितपुर तक घुस सके। एकाध बार कालंजर का किला भी हथिया लिया; पर वह अधिक समय तक उनके अधीन नहीं रहा। वैसे जिझौति (पुलिन्द) राज्य की उत्तरी सीमा चित्रकूट[5] तक उनके दबदबा के प्रमाण मिलते हैं। वत्स (प्रयाग) राज्य के अनन्तर बड़े

---

१. जाजल्लदेव का रत्नपुर-शिलालेख, २१वाँ श्लोक (Epigraphia Indica, Vol. I, P. 34–35)

2. Indian Antiquary, Vol. XV, P. 6.

3. Indian Antiquary, Vol. XVI, P. 202; Archæological Survey of India, Vol. XXI, P. 85.

४, भोजवर्मा के समय का अजयगढ़-शिलालेख, २१ श्लोक (Epigraphia Indica, Vol. I, P. 334)

५. प्रेयान सर्वगुणाङ्कितप्रभुतया श्रीमानभूत् कोक्कलः ॥५॥

राज्यों में चेदि की गणना होती थी। इसीलिए संभवतः दीघनिकाय के जनवसभ-सुत्त में वंस और चेदि का साथ-साथ मिलाकर द्वन्द्व समास के रूप में वर्णन किया गया है...'चेतिवंसेसु'[1]।

समष्टितः इस राज्य के अनेक टुकड़े हो गये थे। फलतः बहुत स्थानों को चेदि राज्य की राजधानी बतलाया जाता है। एक टुकड़ा दाहल (डाहल) और दूसरा महाकोसल[2] था। एक राजधानी नगरीवा में नर्मदा तट पर थी। दूसरी मणिपुर (जिसे अब शिवपुर कहते हैं) महानदी पर अवस्थित थी। मणिपुर 'चित्राङ्गद' के रूप में भी प्रसिद्ध था। किसी समय समस्त राज्य को 'चित्राङ्गद-पुर' कहा जाता था। अनुमान होता है कि 'चित्राङ्गदी' (देश) से इस महान् राज्य का नाम चेदि पड़ गया था[3]। तीसरी राजधानी जबलपुर के निकट तेवर (<त्रिपुरी—यहाँ शिव जी ने त्रिपुरा दैत्य को मारा था) थी। हेमकोश[4] में त्रिपुरी को 'चेदिनगरी' कहा गया है। चौथी राजधानी (ग्वालियर राज्य में, ललितपुर के पास) चन्देरी थी। यह शिशुपाल की राजधानी प्राचीन चेदि है। इसके चारों ओर विशाल चेदि राज्य फैला था। यह राज्य मालवा से लेकर महानदी के किनारे तक (और उससे भी आगे विहार प्रान्त के मध्य तक) विस्तीर्ण था[3]। वस्तुतः चन्देरी या चन्देली चन्देल राजाओं से संबन्ध रखती प्रतीत होती है। चेदि से बिगड़कर चन्देरी या चन्देली होना संगत नहीं जान पड़ता।

द्वैपायन व्यास के मातामह उपरिचर वसु (महाभारत, आदिपर्व ६३ अध्याय) ने इन्द्र की आज्ञा से चेदिदेश पर शासन किया था। यद्यपि इस प्रकार चेदि देश कुछ प्राचीन हो जाता है तथापि पुलिन्ददेश और चेदिदेश का पार्थक्य पदे-पदे सिद्ध होने से कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है। हमारे मतानुसार तो 'चेदि-देश' का नामकरण महाभारत काल में ही हुआ था। पहले इस देश का नाम कुछ और रहा होगा। पहिचान में सुविधा के लिए महाभारत में महाभारत काल के

भोजे वल्लभराजे श्रीहर्षे चित्रकूट-भूपाले।
शङ्करगणे च राजनि यस्यासीदभयः पाणिः ॥७॥

कर्णदेव का बनारस-ताम्रपत्र-लेख (Epigraphia Indica, Vol. II P. 306).

१. भरतसिंह उपाध्याय : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, ४२७ पृष्ठ

२. ३. द्र०—Archæological Survey, Vol. IX, P. 54–55. रामगोपाल मिश्र : तपोभूमि, १२८ पृष्ठ।

४. अभिधानचिन्तामणि, ९७५ श्लोक।

प्रसिद्ध नाम का उल्लेख किया गया है। महाभारत काल में त्रिपुरी चेदिदेश या चेदिनगरी के नाम से प्रसिद्ध नहीं थी। महाभारत (सभा० ३१।६०) में उसका चेदिदेश से पृथक् वर्णन मिलता है।

संभवत: ऋग्वेद के चेदि का पुत्र चैद्य कशु महाभारत में वसु (<कशु) नाम से उल्लिखित हुआ है। वहाँ 'उपरिचर' विशेषण अधिक है। ऋग्वेदोक्त चेदि शब्द देशवाचक नहीं किन्तु जनवाचक है। पण्डित श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[1] पौराणिक वाङ्मय के प्रकाश में वेदों की व्याख्या को असमीचीन और इतिहास-विरुद्ध बतलाते हैं। उनके मतानुसार चेदि बुन्देलखण्ड नहीं था।

ऋग्वेद का चेदि किसी प्रकार देशवाचक मान भी लिया जाए तो भी वह आधुनिक बुन्देलखण्ड के रूप में पहिचाना नहीं जा सकता। चेदि-पुत्र चैद्य कशु ने सौ ऊँट और दस हजार गायों का दान किया था[2]। पन्ना और विजावर जैसे

---

1. If we were to be guided by the Purāṇas and the Abhidhānacintāmaṇi (?) in these matters, the whole Vedic literature would have to be explained in their light and all the characteristic Vedic myths and legends would then put on a different appearance altogether. This would be an absolutely unhistorical method which no historian should ask us to follow. The Vedic texts themselves and not the Purāṇas should be chiefly used for interpreting the Vedas. It is thus that we know that the Gomatī mentioned in Ṛv. S., X, 75. 6, is the Gomal in Afghanistan and not the Gomatī in U. P. Failure to recognize this simple point has led to many mistakes in the interpretation of Vedic history and geography. We should not, therefore, assume that Vidarbha and Cedi in the Vedas meant Berar and Bundelkhand respectively.

—Kshetres'achandra Chattopādhyāya : Indian Culture, Vol. III, P. 12.

२. ता इमे अश्विना सनीनां विद्यातं नवानाम्।

यथा चिच्चैद्य: कशु: शतमुष्ट्रानां ददत् सहस्रा दश गोनाम्॥

ऋग्वेद ८ मण्डल, १ अध्याय, ५ सूक्त, ३७ मन्त्र।

जंगली प्रदेशों में 'मरुभूमि के जहाज' ऊँटों का बाहुल्य ! कैसी हास्यास्पद बात !! ऊँट दान करने वाले राजा के निकट हजारों ऊँटों की उपस्थिति अस्वाभाविक नहीं है। यह बुन्देलखण्ड (विशेषतः उत्तरी बुन्देलखण्ड) की प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। अतः निर्विवादरूपेण बुन्देलखण्ड प्राचीन चेदि-देश नहीं था।

उपरिचर वसु द्वारा शासित चेदिविषय के जनपद धर्म-शील थे। स्वच्छन्दगामी लोग तक मिथ्याप्रलाप नहीं करते थे[1]। यह बातें पन्ना के संबन्ध में नहीं घटतीं। दस्युप्राय इस देश की प्रसिद्धि तो 'पानी, पाथर, लाबरा' के रूप में चारों ओर फैली है।

यद्यपि वैदिक चेदियों के विषय में प्रामाणिक[2] निर्णय कुछ भी नहीं किया जा सकता तथापि कल्पना की दौड़ में यह कहा जाए कि पूर्वी राजस्थान चन्देरी को सीमा मानकर उसके पश्चिमी भाग में उनकी सत्ता रही थी तो अयुक्तियुक्त नहीं होगा। वैदिक काल में आज का राजस्थान नहीं था। संभवतः उस समय वह मरुभूमि भी न हो। एतदर्थ मूर्द्धन्य विद्वान्[3] वैदिक चेदियों की स्थिति की संभावना अफगानिस्तान की ओर करते हैं। हैहयवंशीय चेदीशों से यह चेदि भिन्न थे।

हे अश्विना=हे अश्विनौ, ता=तादृशौ युवाम्, नवानाम्=अभिनवानां श्रेष्ठानाम्, सनीनाम्=संभाजनीयानां धनानाम्। कर्मणि षष्ठी। ईदृशानि धनानि, मे=मह्यम्, दापयितुं विद्यातम्=जानीतम्। यथा चित्=येन खलु प्रकारेण, चैद्यः=चेदिपुत्रः कशुः एतत्संज्ञो राजा उष्ट्रानां शतं तथा गोनाम्=गवां दश सहस्रा=दशसंख्यकानि सहस्राणि, ददत्=दद्यात् तथा विद्यातमिति पूर्वत्रान्वयः। सायणभाष्यम्।

१. धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधवः।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरिष्वपि कुतोऽन्यथा॥

—महाभारत १।६३।१०

२. पण्डित चेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय : वैदिक भूगोल ('भूगोल' पत्रिका का भुवन-कोषाङ्क [मई, जून, जुलाई, १९३२ ई०] प्रयाग)

३. पण्डित चेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय।

उपसंहार

कालञ्जर से लेकर समस्त गोंड़वाना अत्यन्त प्राचीन काल में पुलिन्ददेश था। विन्ध्याचल से लेकर दक्षिण का समस्त प्रदेश 'ऐतरेय ब्राह्मण' का उपान्त्य (=आर्यदेश की सीमा से बहिर्वर्ती) भाग माना गया है। पुण्ड्र, पुलिन्द, शबर, मूतिव तथा अन्ध्र इसी उपान्त्य-क्षेत्र में रहते थे। पुण्ड्र (बंगाल) और अन्ध्र (आन्ध्र) का क्षेत्र निश्चतप्राय है। शेष भूदेश पुलिन्द और शबरों का आवास-स्थल था। शबर उड़ीसा (महानदी के आसपास) के शासक थे।

क्या गोंड़ वस्तुतः पुलिन्द थे ! टॉलमी ने उन्हें 'फुलित (<पुलिन्द) गोंडली' कहा है। इस देश को उन्होंने 'पर्स फुलितरम्' बताया है। फुलित अधिक उत्तर में रहते थे। आर्कियालॉजिकल् सर्वे (९ खण्ड, १५१ पृष्ठ) के अनुसार फुल्लित (<पुलिन्द) नाम पूर्णतः ग्रीक है। उसका अर्थ 'पत्र-वसन' ='पत्तों के परिधान वाला' होता है। वराहमिहिर पर्ण-शबरों की सूचना देते हैं[1]। अष्टम पृष्ठ पर की गयी पुलस्तिन्>पुलिस्त>पुलिन्द कल्पना रावणवंशज गोंड़ों को पुलिन्दों से भी संबद्ध बतलाती है। चन्देलघराने की दुर्गावती का विवाह गोंड़ राजा दलपतिशाह के साथ हुआ था। गोंड़ राजा

---

1. This conclusion, however, refers only to the rulers of the country, and not to the bulk of the population, which in even in the time of ptolemy would appear to have been the aboriginal Gond. In his day the large district at the head of the Nanaguna, or Tapti river, was occupied by the Condali or Gondali, a name which has been generally identified with that of the Gondas. But their country is described as **Pars phullitarum,** the **Phullitae** themselves being placed **more to the north.** I take this name to be a pure Greek one, FULLEITAI, descriptive of the "leaf-clad" aborigines. Varāha Mihira notices the Parṇa-Śabaras, or "leaf-clad Gonds", in the time of Ptolemy, and that there are the people intended by his Phullitæ-Gondi.

Archæological Survey of India, Vol. IX, P. 151.

अपने को राउत[1] (<राजपुत्र) लिखा करते थे। कुछ लोगों का मत है कि 'राजपुत्र' शब्द अत्यन्त परवर्ती है। इस प्रकार की चर्चाएँ अप्रामाणिक हैं। राजा शब्द का प्रयोग जब से प्रचलित हुआ तभी से राजपुत्र शब्द भी ज्ञेय है। वाल्मीकीय रामायण में सगरपुत्रों को राजपुत्र[2] कहा गया है। यह संज्ञा हेय नहीं मानी जाती थी। वल्लालसेन के प्रथम शताब्दी के शिलालेख में 'राजपुत्रों' का नाम सादर लिया गया है[3]। संभवतः यह शब्द वहीं निन्दार्थक हो गया जहाँ इसकी रूढि जाति में हो गयी।

पुलिन्द कब से गोंड़ कहे जाने लगे यह अनुसंधानीय है। स्मरणीय रहे कि पुलिन्द गौरवर्ण और गोंड़ कृष्णवर्ण होते हैं। (गोंड़ों में संक्रान्ति होने पर भी) पुलिन्दों ने अपनी शाखा सुरक्षित रखी। अशोक, महाराज हस्ती, वराहमिहिर[4] (६०० ई०) तथा (अन्तिम उल्लेख) आनन्दवर्मा के समय में पुलिन्दों की चर्चा हुई है। हैहय और कलचुरि-नृप (जो बाद में चेदीश के नाम से प्रसिद्ध हुए) समग्र दक्षिणकोसल और आधुनिक बुन्देलखण्ड पर छा गये। वराहमिहिर ने भी पुलिन्ददेश को चेदिदेश से पृथक् बताया है।

इस प्रदेश की दूसरी विशेषता 'ब्राह्मण-राज्य' है। समस्त ब्राह्मण-शासक प्रायः भरद्वाज-गोत्रीय थे। प्रयाग-चित्रकूट के मध्य में स्थित भरद्वाज की संतति शनैःशनैः इस ओर आकर बस गयी। पश्चात् उसने एक विशाल साम्राज्य बना लिया। भरद्वाजवंशीय वाकाटक-सम्राट् श्री प्रवरसेन ने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम,

---

1. There is one with an inscription dated in Samvat 1651 or A. D. 1594, during the reign of the Gond Rājā Prema Nārāyan.—'वाको वेटा सिरोमनि राउत'

Archæological Survey of India Reports, Vol. IX, P. 38.

२. 'स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम्'—वा० रा० १।४१।१५. यहाँ राजपुत्र शब्द जातिवाचक नहीं है।

३. 'कीर्त्युल्लोलैः स्नपित-वियतो जज्ञिरे राजपुत्राः' ॥३॥

—(Epigraphia Indica, Vol. XIV, P. 159-60).

४. 'भिन्नः सितेन मगधान् यवनान् पुलिन्दान्'—वृहत्संहिता ४।२२.

'सिंहे पुलिन्दगणमेकलसत्त्वयुक्तान्'—वृहत्संहिता ५।३६.

'प्रत्यन्तावन्ति-पुलिन्द-तङ्गणान् शूरसेनांश्च'—वृहत्संहिता ६।१७.

'मेकल-किरात-विटका वहिरन्तः शैलजाः पुलिन्दाश्च'—वृहत्संहिता १६।२.

'चम्पोदुम्बर-कौशाम्बि-चेदि-विन्ध्याटवी-कलिङ्गाश्च'—वृहत्संहिता १६।३.

वाजपेय, बृहस्पति-सव और चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। उसी वंश के भारशिव महाराज श्री रुद्रसेन ने दस अश्वमेध यज्ञ किये[1]। संभवतः इसी कारण कालान्तर (चौथी-पाँचवीं शताब्दी) में इस प्रदेश को लोग यजुर्हुति नाम से पुकारने लगे। इसका विकसित रूप होगा जझौति। यद्यपि यकार के कारण जकार इकारविशिष्ट (जिझौति) भी हो सकता है तथापि स्कन्दपुराण के 'जहाहुति' पर ध्यान देने से इसका निवारण सहजतः हो जाता है। सातवीं शताब्दी में ह्वेन त्साङ्ग ने जझौति का उल्लेख किया है। जयशक्ति>जेजाक>जेजा नवीं शताब्दी में हुआ। इसके वंशज परवर्ती राजाओं ने इस प्रदेश का नाम 'जजा' जेजा के नाम से संवद्ध करना चाहा। ध्यान रहे, जयशक्ति का नाम किसी भी शिलालेख में 'जजा' नहीं है। 'जेजाभुक्ति' का विकास 'जिझौति' होगा जझौति नहीं। इसी संक्रान्ति के कारण कुछ लोग जझौति, जझओति कहते है और कुछ व्यक्ति जिझौति बोलते हैं। इस सांकर्य में पड़कर कुछ जझौतिया ब्राह्मण भी अपने को 'जिझौतिया' कहते पाये जाते है। इस प्रदेश के पूर्वोक्त नाम का एक तृतीय विकास भी पाया जाता है—'जुझौति' (<जुझारसिंह ?)।

जब कीर्तिवर्मा को डाहल के कर्ण ने परास्त कर जझौति का राज्य ले लिया तब गोपाल नामक ब्राह्मण-सेनापति की सहायता से उसने अपना खोया राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। जझौति के उक्त ब्राह्मण-राजवंश के लोग चन्देलों से मिलकर उनकी सहायता करते रहे। पुलिन्दों ने ऐसा कभी नहीं किया। चन्देल-राज्य के शिथिल हो जाने पर वे फिर उठे और उन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया। परन्तु वे अधिकांशतः परस्पर झगड़ते रहते थे। अपनी शक्ति का अपव्यय गृह-कलह में कर देते थे। अतः पुनः प्राप्त राज्य भी अधिक समय तक कायम नहीं रख सके। वे प्रकृतितः रक्षित अपने मूलनिवास की ओर सिमट आये।

ए० कनिंघम कथासरित्सागर के आधार पर शवर जाति को पुलिन्द और

---

१. वेम्वार-वासकादग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्यषोडश्यतिरात्र - वाजपेय - बृहस्पति-सव-साद्यस्क-चतुरश्वमेधयाजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राड् वाकाटकानां महाराज-श्रीप्रवरसेनस्य सूनोस्सूनोः अत्यन्त-स्वामि-महाभैरवभक्तस्य अंसभारसन्निवेशित-शिवलिङ्गोद्वहन-शिव-सुपरितुष्ट-समुत्पादित-राजवंशानां पराक्रमाधिगत-भागीरथ्य-मलजल-मूर्ध्नाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातानां भारशिवानां महाराज-श्रीरुद्रसेनस्य...।

Balaghat Plates of Prithvisena II (Epigraphia Indica, Vol. IX, P. 270).

भिल्ल का पर्यायवाची मानते हैं[१]। फलतः महानदी के तट पर स्थित सिरपुर से प्राप्त शबर वंश के राजा उदयन का संस्कृत-अभिलेख[२] पुलिन्दों के राजत्व-संबन्ध की सूचना देता है। इसी प्रकार लगभग सन् १००० ई० के भिलसा-अभिलेख में शबर जाति के सिंह नामक व्यक्ति का उल्लेख हुआ है[3]। प्रॉफेसर हाल के विचार से वह शबर[४] चेदियन सेनापति था। उक्त समस्त विवरण यह बताने के लिए पर्याप्त नहीं हैं कि पुलिन्दों ने चेदीश या अन्य किसी राजा का सेनापति बनकर उसे सहायता दी। सिरपुर के अभिलेख से शबर>सोंरों का राजा होना सुनिश्चित हो जाता है; और सोंरों के राउत उपाध्यन्तर के आधार पर पूर्व-पृष्ठों में की गयी कल्पना पूर्णतः चरितार्थ हो गयी। चन्देलवंशीय वीरवर्म्मदेव के शिलालेख में राउत योद्धाओं का उल्लेख हुआ है। सोंधी संग्राम (दम्युहडवर्म्मयुद्ध) में राउत अभि के शौर्यातिशय से प्रसन्न होकर वीरवर्म्मदेव ने उसे **टुमटुमा** ग्राम प्रदान किया था। **राउत अभि** काश्यपगोत्रीय राउत जगदेव का पौत्र और राउत हरिपाल का पुत्र था। उक्त राजा ने विलासपुर में संवत् १३११ आश्विन सुदि ८ सोमवार को पुण्यतीर्थोदक से स्नान करके सूर्यपूजा-पुरःसर माता-पिता और अपने पुण्य तथा यश की वृद्धि के हेतु उक्त ग्राम का दान किया था[५]।

---

1. In later times, when Soma Deva wrote the Katha-Sarit-Sagara, the name of S'avara is used as synonymous with Pulinda and Bhilla, and therefore, means only a man of an aboriginal tribe, of whom the writer knew nothing except by hearsay.—Archæological Survey of India Reports, Vol. XVII, P. 139.

2. Archæological Survey of India Reports, Vol. XVII, P. 138.

3. Archæological Survey of India reports, Vol. XVII, P. 129.

४. वह वस्तुतः पश्चिमी शबरों से संबद्ध था—Journal of Bengal Asiatic Society, 1862, P. 112, note.

५. उपरिलिखितोऽयं ग्रामः . अस्माभिः श्रीविलासपुरे संवत् १३११ आश्विन सुदि ८ सोमवासरे पुण्यतीर्थोदकेन स्नात्वा भास्कर-पूजा-पुरःसरं माता-पित्रोरात्मनः पुण्य यशोभिवृद्धये। व (चं) द्रेश्वरान्वये क [T *] स्य(श्य) पगोत्राय राउत-देवषमूप्रपौत्राय राउत-जगदेव-पौत्राय राउत-हरिपाल-पुत्राय

'पुण्यतीर्थोदक से स्नान करके' और 'पुण्य के लिए' पदों पर ध्यान देने पर राउत अभि को निश्चयतः क्षत्रिय नहीं कहा जा सकता। 'कृतवीर्यातिशये प्रसादे' अर्थ पर ध्यान देने पर तथा केवल काश्यपगोत्रीय होने पर उसे निश्चयतः ब्राह्मण भी नहीं कहा जा सकता। अभी हम केवल इतना कह सकने में समर्थ हैं कि राउत अभि किसी राजवंश से संवद्ध था। तुलनीय चौहानवंश की एक शाखा भदौरिहा की छठीं उपशाखा 'रावत' तथा हिमालय की तराई में रहने वाली थारू जाति के भेद महाउत की पदवी 'राउत'।

बुन्देलखण्ड में 'राउत' नाम या उपाधि आज उच्च दृष्टिकोण से नहीं देखी जाती[1]। यह सामान्यतः सौंरों की वाचक है। इससे सुस्पष्ट है कि सौंर बुन्देलखण्ड में कभी शासक नहीं रहे और न वे पुलिन्दों के पर्याय ही थे। टालमी ने पोउलिन्दै =पुलिन्द शब्द को ग्रीक नहीं बताया किन्तु 'अग्रिओफगोइ' को ग्रीक विशेषण या उपाधि कहा है[2]।

'टालमी के भूगोल पर अनुसन्धान' नामक पुस्तक में [सुवर्ण द्वीप (Golden

---

सोंधीसंग्रामे दम्युहडवर्म्मयुद्धे कृतवीर्यातिशये प्रसादे राउत-अभिनाम्ने शासनीकृत्य प्रदत्तः।

Charakhārī Plate of Vīravarma Deva (Epigraphia Indica, Vol. XX, P. 133).

1. Just as in some districts an inferior Rājpūt is called a Rāwat, the corruption of the name betokening the corruption of the caste.

—W. Crooke B. A. : The Tribes And Castes, Vol. II, P. 66.

2. The 'Poulindai, Agriophagoi are described as occupying the Parts northward of those just mentioned. Pulinda is a name applied in Hindū works to a variety of aboriginal races. Agriophagoi is a Greek epithet, and indicates that the Pulind was a tribe that subsisted on raw flesh and roots or wild fruits. In Yale's map they are located to the N. E. of the Raṇ of Kachh, lying between the Khatriaioi in the north and Larikē in the south. Another tribe of this name lived about the central parts of the vindhyas.

Ancient India (As described by Ptolemy), P. 157.

Khersonese)] मलय-स्थित पलन्द् (नामक नगर) को संस्कृत शब्द बताया गया है। 'पलाण्डु' (=प्याज) या 'प्रलम्भ' शब्द से 'पलन्द' की व्युत्पत्ति अनुमित की गयी है। पेरक से अनतिदूर यह नगर आज बेलन्द् या ब्लन्द नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पलन्द नाम की एक नदी भी है। आज वह भी उपर्युक्त नामों से प्रख्यात है। संगेइ उजॉङ्ग और नेग्रि सेम्बिलन् जिलों (मलय पेनिन्सुला) में पलन्द नामक जाति भी फैली है। उक्त द्वीप के उक्त नामों पर भारतीय पुलिन्दों के प्रभाव की संभावना की जाती है[1]। 'पलन्द्' का बॅलन्द् या ब्लन्द् रूप में विकास पुलिन्द् के 'बुन्देल' रूपेण विकास की पुष्टि करने में अत्यन्त सहायक है।

कुछ लोग विन्ध्य से संपर्क रखने वालों को * विन्ध्येले > * विन्देले > बुन्देले तथा वन से संबन्ध रखने वालों को बनेला सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार प्रमाणतः बघेला, रुहेला प्रभृति शब्द प्रस्तुत किये जाते हैं। वस्तुतः उक्त शब्दों का मूल तथा प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। भ्रान्ति से सादृश्य की प्रतीति होने लगती है। अरबी के एतबार (=विश्वास, धाक) एवं हिन्दी के एतबार (<आदित्यवार) शब्दों में वाह्याकृति के सादृश्य के कारण मूल में भी सादृश्य की कल्पना करना कितनी बड़ी भ्रान्ति होगी ! इसी प्रकार भ्रान्ति से खान, समूह-वाचक आगर (<आकर) शब्द तथा गृह-वाचक आगर (<आगार) शब्दों के मूल में सादृश्य-कल्पना कर ली जाती है।

---

1. Paland, a city (84). It is mentioned by Ptolemy among the inland towns of the Golden Khersonese, and corresponds certainly to the district of Perak or to its ancient capital. Paland if it be a term of Sanskrit origin, may stand for **Palandu** ('onion') or **Pralambha** ('tin').—Researches on Ptolemy's Geography of Eastern Asia, P. 97.

[Paland (town) and Palandas or Palandos (river)] Both these toponyms embody, as I have but lately discovered, the name of the **Belandas, Blandas** or **Belendas,** a tribe now still surviving in the Sungei Ujong and Negri Sembilan districts, on the Malay Peninsula, not far from Perak (between Selangor and Malacca). This tribe, of the Mentra or Sakei family, non—Negrito, may have been so named from the Pulindas of India.—P. 729–730.

वनेला शब्द में संवन्ध-सूचक 'एल' प्रत्यय नहीं है। वह वनालय (वनम् आलयो वर्तते यस्य सः=वन है घर जिसका वह वनालय) का विकसित रूप है। वनालयः>वनायला (य>इ>ए, आ+ए=ऐ)>वनेला, वनैला। बुन्देला शब्द विन्ध्य या विन्ध्यालय से विकसित नहीं है। विन्ध्य का विकास बिन्द[1] और विन्ध्यालय का वेंदेले[2] होगा। मत-मतान्तर प्रकरण में वताया जा चुका है कि पुलिन्द से वोलिन्द>वोन्दिल और बुन्देल शब्दों का विकास हुआ है। मद्रास की ओर बोन्दिली जाति[3] पायी जाती है। उक्त जाति के लोग अपने को राजपूत[4]

---

1. Bind.—A non-Aryan tribe in the Estern Districts of the Division, and with scattered colonies elsewhere. The name is said to be derived from the Vindhya hills (विन्ध्य पर्वत) of Central India.

W. Crooke : The Tribes And Castes, Vol. II, P. 106–107.

२. तुलनीय दाक्षिणात्य लड़ाकू वेदार जाति (अनन्तपुर जिला) तथा बिन्धोल्लु जोगी-वंश (E. Thurston : Castes And Tribes of Southern India.)

3. Bondili.—In the Madras Cencus Report, 1891, the Bondilis are "said to derive their name from Bundelkhand. They claim to be Rājpūts, but appear to have degenerated. The S'ivaites of this sect are said to bury their dead, while the Vishnavaites burn. In the Kadri Taluk of Cuddapah all are said to bury. The Bondilis of the North Arcot district are described by Mr. H. A. Stuart as being "foreigners from Bundelkhand, from which fact their name originates, and of various Vais'ya and S'ūdra castes; the former having the termination Lāl to their names, and the latter that of Rām. Many of the S'ūdra Bondilis, however, improperly take the title Singh, and say they are Ks'atriyas, that is Rājpūts."

—E. Thurston : Castes And Tribes of Southern India, Vol. I, P. 257–258.

४. पीछे वताया जा चुका है कि किसी भी जाति के राजा का पुत्र राजपुत्र>राजपूत कहलाने का अधिकारी है। 'प्राचीन काल में राजाओं का गोत्र वही माना जाता था जो उनके पुरोहित का होता था'—(महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास,

कहते हैं किन्तु शैव बोन्दिली शवों को गाड़ते हैं जबकि वैष्णव बोन्दिली उन्हें जलाते हैं। वे अपनी बोन्दिली जाति की व्युत्पत्ति बुन्देलखण्ड से बताते हैं। संभवतः इन पुलिन्दों ने बारहवीं शताब्दी के अन्त में अपना अभिजन (पुलिन्ददेश) छोड़ दिया था। इनमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण पाये जाते हैं ब्राह्मण नहीं।

---

२१६ पृष्ठ)। अतः पैत्रिक गोत्रविहीन राजाओं के पुत्रों राजपुत्रों के वंश में सांकर्य बताया गया है। जो भी हो, राजपुत्र शब्द ऋग्वेद २।२७।७; १०।४०।३ तथा ब्राह्मण, आरण्यक आदि वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। पालि-भाषा के सुत्तनिपात ४५५, मिलिन्दप्रश्न ३३१ आदि में राजपुत्त तथा राजपुत शब्द मिलते हैं। पालि-साहित्य में राउत्त शब्द संभवतः प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसके दर्शन प्राकृत में होते हैं। रावल (<राजकुल) और राव शब्द भी प्राकृतभाषा के अपने हैं।

बुन्देलखण्ड की प्राचीनता

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कुछ शब्दों के विकास का

इतिहास

'पुलिन्द' अनार्य नहीं किन्तु व्रात्य क्षत्रिय थे। अतः उनकी भाषा
में अनार्य-भाषा के बीज ढूँढ़ना समीचीन नहीं होगा। आदि काल
में जनभाषा का बोलबाला रहता है। क्रमशः वही जनभाषा
साहित्यिक भाषा के रूप में माँज-सँवार कर प्रस्तुत कर दी
जाती है। कालक्रमेण उस साहित्यिक भाषा का भी
प्राकृत-अपभ्रंश के रूप में विकास होने लगता है।
फलतः आदि जनभाषा का प्रवाह और साहित्यिक
भाषा की प्राकृतिक-अपभ्रंश रूप विकास-धारा
आदि घूम-घामकर एक साथ मिल जाते हैं।
यही कारण है कि भाषा का विश्लेषण
करते समय मनीषी भी ठिठक जाते
हैं, द्वैविध्य में पड़ जाते हैं।
ऐतरेय ब्राह्मण के पुलिन्दों
(विश्वामित्र के पुत्रों) की
भाषा में ही वैदिक
'पल्पूलयति' का
वास्तविक अर्थ
मिल सकता
है।

बुन्देलखण्डी भाषा में व्यवहृत
'मौंड़ा' शब्द के विकास का इतिहास

विकासात्मक इतिहास-ज्ञान के बिना किसी शब्द की व्युत्पत्ति करना अपना दु:साहस प्रदर्शनमात्र होता है। प्रस्तुत शब्द के इतिहासान्वेषण के अभाव में कल्पनाशील विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति—मूल:>मोला>मोड़ा>मौड़ा तथा मूढ:>मूड (:) (काश्मीरी भाषा)>मुड (:) (काश्मीरी भाषा)> मोडा>मौड़ा—करने का भ्रान्त प्रयत्न कर लेते हैं। वस्तुत: कोई भी शब्द अपने में लम्बा इतिहास उपगूहित रखता है।

उपनिषद्, सूत्र तथा लौकिक संस्कृत वाङ्मय में एक शब्द उपलब्ध होता है—माणव (क)। समान पद में रकार या षकार से परवर्ती नकार को णकार करने का विधान है—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१)। प्रस्तुत नियम के अनुसार 'मानव' शब्द में नकार को णकार करने का कोई निमित्त उपात्त नहीं है। प्राकृत भाषाओं में अनैमित्तिक णकार का बाहुल्य है। प्राकृत जन अपनी भाषा में णकार का अप्रयोजनीय यथेष्ट प्रयोग कर डालते हैं। यह प्रयोग मुख-सुखार्थता के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखता। पंजाबी तथा राजस्थानी भाषा में णकार-प्राचुर्य मननीय है।

इस (कुत्सित) निरर्थक प्रवृत्ति को देखकर संस्कृत में कुत्सित अर्थ बोधित कराने के हेतु बहुतर अनैमित्तिक णकार का प्रयोग कर दिया जाता है। 'मानव' का अर्थ होता है—मनुष्य। नकार को अनैमित्तिक णकार[1] कर देने पर मानव का अर्थ हुआ—कुत्सित मनुष्य। जो मनुष्यों जैसा व्यवहार करे पर पूर्ण मनुष्य न हुआ हो उसे भी माणव पद से संबोधित किया जाएगा। यद्यपि पाणिनीय सूत्रों द्वारा माणव-गत णकार का विधान नहीं किया गया तथापि उनके सूत्रों में यह अनेकत्र उल्लिखित हुआ है—'माणवचरकाभ्यां खञ्' (५।१।११)—माणवीन=माणव संबन्धी, माणव का हितकारी, 'ब्राह्मणमाणव-

---

१. द्रष्टव्य हमारा लेख—'ण' की सत्ता और समाधान—त्रिपथगा, दिसम्बर १९६१; तथा 'ण' एक समस्या और समाधान—'साप्ताहिक आज', ६ जनवरी १९६२.

वाडवाड् यन्' (४।२।४२)—माणव्य=माणव (=शिशु) समूह, 'न दण्ड-माणवान्तेवासिषु' (४।३।१३०)—दण्डमाणव=दण्डप्रधान बालक। इन पाणिनीय प्रयोगों के आधार पर वैयाकरण माणव-गत णत्व को निपातन घोषित कर देते हैं—

अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्धयति माणवः॥

—काशिका ४।१।१६१

= "मनु-संबन्धी यह कुत्सित, मूढ़ और अपत्य'—इन अर्थों में नकार को मूर्द्धन्य (णकार) होने पर 'माणव' शब्द की सिद्धि होती है।"

माणव शब्द के णकार का यद्यपि संस्कृत में कुत्सा अर्थ प्राप्त होता है तथापि प्राकृत भाषा में वह अनुपलब्ध है। प्राकृत-भाषा-भाषी णकारप्रिय होने के कारण इस प्रवृत्ति को कुत्सित नहीं मानते। प्राकृत भाषा में माणव शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त मिलता है—१ मनुष्य (सुपासनाहचरिअ २४३) तथा २—भगवान् महावीर का एक गण (ठाणंगसुत्त ६—पत्र ४५१; कल्पसूत्र)।

संस्कृत में 'माणवकं पन्थानं पृच्छति'=लड़के से रास्ता पूछता है (सिद्धान्त कौमुदी—अकथितं च १।४।५१) के समान प्राकृत में माणवग (<माणव) का अर्थ लड़का नहीं होता। प्राकृत में इसके तीन अर्थ मिलते हैं—१–अस्त्र-शस्त्रों की पूर्ति करने वाला निधि (उपदेशपद ९८६ टी, ठाणंगसुत्त ६—पत्र ४४९)। २—एक महाग्रह (ठाणंगसुत्त २, ३; सुज्ज'[1] २०)। ३–सौधर्म देवलोक का एक चैत्यस्तम्भ (समवायांग सूत्र ६३)।

यद्यपि प्राकृतभाषा में श्रेष्ठिपुत्रार्थक एक शब्द मिलता है—'माण' (सुपासनाहचरिअ ५४५) तथापि भाषाविज्ञान की रीति के अनुसार इसके विकास का 'मौंड़ा' रूप में पर्यवसित होना दुःशक होगा। आकार का विकास ओकार रूप में अनुपलब्ध है। अतः प्राकृत भाषा के इस शब्द को 'मौंड़ा' शब्द का मूल नहीं माना जा सकता।

पालि भाषा में 'माणव' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१–युवा, २–युवा ब्राह्मण—(सुत्तनिपात १०२२, १०१७, १०२८; जातक ४, ३६१), ३–(ब्राह्मण) कुमार (पेतवत्थु ४१ [अ])। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प नामक बौद्ध ग्रन्थ में पाणिनि का विशेषण 'माणव' दिया गया है। उस ग्रन्थ के

---

१. सूर्यप्रज्ञप्ति।

अनुसार माणव (=ब्राह्मणकुमार) पाणिनि के साथ महापद्मनन्द की मित्रता रही थी। अतः प्रतीत होता है कि पालि के समय से इस मानव >माणव [=कुत्सित मनुष्य] का प्रयोग कुमार अर्थ में होने लगा था। इसका अनैमित्तिक णकार भी इसके प्राकृत तथा पालि होने का सूचक है, मूल संस्कृत का नहीं।

संस्कृत वाङ्मय में माणव (क) शब्द अधोलिखित ग्रन्थों में पाया जाता हैं—माणवकः-इतिहासोपनिपद् १०:७; गोभिल-गृह्यसूत्र[1] २,१०,६; 'सिद्ध-व्यञ्जना माणवा माणवविद्याभिः प्रलोभयेयुः'-कौ० अर्थशास्त्र (४।५)। कौ० अर्थ-शास्त्र को छोड़कर दोनों ग्रन्थों में प्रकृत शब्द का अर्थ बालक होता है। अर्थशास्त्र में माणव शब्द कुपुरुष=चौर, पारदारिक आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ **माणवविद्या** प्रस्वापन तथा अन्तर्धानादिकारी कुमन्त्र अर्थो की वाचिका है। श्रीमद्भागवत में माणवक शब्द षोडश वर्ष पर्यन्त (प्रथम वयस्क) अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। [अल्पो मानवः—माणवकः (अल्पे ५।३।८५) कन्]

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय **मायामाणवको** हरिः ॥८।१६।३२।

अमरकोश २।६।१०६ (भरत) टीका के अनुसार विंशतियष्टिक हार का भी नाम माणवक होता है। वह माणवक = शिशु के सदृश होने के कारण माणवक कहलाया। बृहत्संहिता में षोडशयष्टिक हार का माणवक नाम से उल्लेख हुआ है—८१।३३। इन समस्त संस्कृत ग्रन्थों पर प्राथमिक जनभाषा (प्राकृत) का प्रभाव सुस्पष्ट है।

लोक में उक्त शब्द का व्यवहार अविच्छिन्नरूपेण चला आया। सूरदास और रसखान ने इसका प्रयोग किया है—

मैया बहुत बुरो बलदाऊ।
कहन लगे वन बड़ो तमासो सब **मौंड़ा** मिलि आऊ। (सूरदास)।

---

१. 'यदहरुपैष्यन् माणवको भवति'—२.१०।७=माणवकः=इत्यनधीतवेदो भण्यते 'अनूचो माणवको ज्ञेयः' इति। ४१३ पृष्ठ (टीकाकार चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार।

"माणवकोनुपूक्तो भवति। माणवक इत्यनधीतवेदस्येयं संज्ञा। तथा चोक्तम्—'अनूचो माणवको ज्ञेयः'—कर्मप्रदीप ३।८।११"—भट्टनारायण भाष्य २।१०।६, ४५९ पृष्ठ।

बाट ही गोरस बेच री आज।
तू माय के मूँड़ चढ़ै मति मौंड़ी ॥ (=लड़की)

—रसखान।

व्रजभाषा में मौंड़ा, मौंड़ी शब्दों की अपेक्षा छोरा, छोरी अत्यधिक प्रचलित हैं। श्रीमद्भागवत के माणवक शब्द के आधार पर सूर ने साहित्यिक भाषा में मौड़ा शब्द का प्रयोग किया है।

बुन्देलखण्डी भाषा में मौंड़ा[1] मौंड़ी शब्द लड़का, लड़की अर्थ में साधारणतः सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं। आज संपूर्ण भारत में यही प्रदेश इस शब्द की वास्तविक प्रयोगस्थली है। त्योंदा-रसीलपुर (भेलसा जिला) की ओर मौंड़ा शब्द का विकास मुरहा रूप में भी हो जाता है। इसका प्रयोग कुछ अप्रसन्नता दिखलाते समय किया जाता है।

प्रकृत शब्द का विकास-क्रम इस प्रकार बोधनीय है—माणवः (<मानवः) >माणवा (ण् तथा व् का परस्पर विपर्यय)>मावणा (वकार का संप्रसारण-उ)>माउणा (आ+उ गुण—ओ। ण का संकोच—ड़)>म्—ओड़ा (मोड़ा) या [आ+उ>ओ, वृद्धि—औ]>मौड़ा (अनुनासिक णकार के संस्कार के फलस्वरूप अनुस्वार)>मौंड़ा। त्योंदा-रसीलपुर की ओर इसका द्विधा विकास हुआ। एक उपरि निर्दिष्ट तथा द्वितीय—माणवः>मावणः>माउड़हा>मुड़हा> मुरहा तथा [हा लोप] मुरा।

मराठी भाषा में इस शब्द का विकास-क्रम कुछ भिन्न प्रकार से हुआ। बुन्देलखण्डी भाषा में अन्तिम व्यञ्जन ककार का विकार श्रूयमाण नहीं है। मराठी में वह 'ग' के रूप में विद्यमान है—माणवकः>मावणका ('व' को संप्रसारणात्—उ, आकार-अकार लोप)>मुणका >(ण>ल, क>ग) मुलगा तथा मुलगी। मराठी व्युत्पत्तिकोशकार ने इसकी व्युत्पत्ति का 'मूल' तथा 'मूल्य' शब्दों से अनुमान कर बाद में अपने ही निर्वाचन को चिन्त्य घोषित कर डाला[2]।

---

१. तुलनीय पंजाबी भाषा का 'मुण्डा' शब्द।

२. 'संस्कृत-मूल, मूल्य, मूल्लक; प्रा० मुल्ल० पुढील अपत्यवाचक शब्द व त्यांचे निर्वचन चिन्त्य आहे'।

बुन्देलखण्डी भाषा में व्यवहृत

कोथमीर शब्द के विकास का इतिहास

'हरा धनियाँ' इन दो शब्दों द्वारा हिन्दी में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है बुन्देलखण्डी बोली में उसे 'कोथमीर' कहा जाता है। वहाँ धनाँ या धनियाँ से सूखे अथवा हरे बीज का बोध होता है पत्ती का नहीं। उदाहरणतः निर्धनता व्यक्त करने के हेतु वहाँ की कहावत 'न दो धना और न दो चना' में धना का बीज रूप अर्थ मननीय है। हिन्दीशब्दसागर में प्रस्तुत शब्द की व्युत्पत्ति के कोष्ठक के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा है।

वैदिक भाषा में इस शब्द का मूल अनुपलब्ध है। मेदिनीकोश[1] के अनुसार 'तुम्बुरी' धनियाँ को कहते हैं। 'कुस्तुम्बरी'[2] शब्द सुश्रुत में उपलब्ध होता है।[3] पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा वैद्यक-रत्नमाला[4] में तो 'कुस्तुम्बुरु' शब्द भी प्राप्त होता है। अमरकोश में केवल कुस्तुम्बुरु शब्द का उल्लेख मिलता है कुस्तुम्बरी का नहीं। वह पाणिनि (६।१।१४३) तथा ऋक्तन्त्र (४।६।५) से अनुकृत है।

वस्तुतः कुस्तुम्बरी शब्द का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध होता है। 'कुस्तुम्बुरु' शब्द देशभेद से भले ही कहीं प्रयुक्त होता रहा हो संप्रति प्रयोग दुर्लभ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार[5] – 'धनिये के लिए संस्कृत का यह विचित्र शब्द दक्षिण-भारत की भाषाओं से लिया गया था।' उन्होंने उदाहरणस्वरूप कन्नड़ का 'कोतम्बरि', तेलुगू का 'कोत्तिमिर' और तमिल का 'कोत्तमल्लि' प्रस्तुत

---

१. 'तुम्बुरी कुक्कुरस्त्रियाम्। धन्याकेऽपि'—२७।१६३

२. कु = कुत्सिता तुम्बरी—"पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (पा० सू० ६।३।१०९) सूत्र से सुट् (स्) प्रत्यय होता है।

३. आर्द्रा कुस्तुम्बरीं कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम्।
सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशिनी॥

सूत्रस्थान, ४६ अध्याय।

४. धन्याकं धान्याकं धान्यं कुस्तुम्बुरु धनीयकम्।
धन्या कुस्तुम्बरी चान्या वेषलोग्रा वितुन्नकम्॥

५. पाणिनिकालीन भारतवर्ष।

किये हैं। वस्तुतः ये सब शब्द 'कुस्तुम्बीर' से विकसित हैं 'कुस्तुम्बुरु' का इनसे कुछ भी संबन्ध नहीं है।

प्राकृतभाषा के पण्णवणासुत्त ग्रन्थ (१—पत्र ३१) में **कुत्थंभरी** प्रयोग मिलता है। इसका विकास कुस्तुम्बरी से (>कुत्थंभरी) निश्चयतः ज्ञानीय है कुस्तुम्बुरु से नहीं।

'कुस्तुम्बरी' का विकास इस प्रकार बोधनीय है—

कुस्तुम्बरी (संयुक्त 'स्' एवं 'त्' का वर्णविपर्यय। दन्त्य तथा महाप्राण 'स्' के स्थान पर पूर्ववर्ती 'त्' का सवर्ण अक्षर 'थ्' हुआ। यथा पुस्त>पुत्थ [>पोथा]। 'ब' के स्थान पर उसका महाप्राणीय वर्ण 'भ' हो गया)> कुत्थुंभरी (थकारोत्तरवर्तीउकार के स्थान पर अकार)>कुत्थंभरी (ककारोत्तरवर्ती उकार को गुण—ओ)>कोत्थंभरी (भकारोत्तरवर्ती अकार तथा रकारोत्तरवर्ती ईकार का वर्णविपर्यय)>कोत्थंभीर (अनुस्वार को मकार तथा भकार को पूर्वसवर्ण मकार)>कोथम्मीर (मकार-लोप)>कोथमीर।

निष्कर्षतः "सुश्रुत में उल्लिखित कुस्तुम्बरी शब्द उसके पूर्ववर्ती साहित्य में अनुपलब्ध है; पृषोदरादि द्वारा 'कु' के पश्चात् 'स्' किया गया है एवं भारोपीय भाषाओं में इसका प्रयोग दुर्दर्श रहा है। अतः यह शुद्ध संस्कृत तथा आर्यस्रोतस्क शब्द नहीं है।"—ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। फ्रेंच और लैटिन में कुछ परिवर्तित ध्वनियों में एक शब्द मिलता है—कोरि-अन्-ड्रम् (Coriandrum)। ग्रीक में इसका नाम है—कोरि-अन्-नन्। अँग्रेजी में इसे 'कोरि-अन्-डर्' (Coriander) कहते हैं। एलाइस् वॉल्दे एवं जूलियस् पॉकर्नी के इण्डो-जर्मनिक व्युत्पत्ति-कोश में किसी शब्द के न मिलने के कारण ही उस शब्द को आर्येतर कहना सर्वथा भ्रान्ति- एवं संकीर्णतापूर्वक निर्णय करना होगा।

कुस्तुम्बरी>कुत्थुंभरी का विकास फ्रेंच लैटिन और अँग्रेजी में निम्नलिखित विधि से हुआ—

कुत्थुंभरी (त्थ—मूर्धन्य)>कुट्ठुम्भरी ('री' का 'कु' के आगे आगम एवं अपने स्थान पर 'र्' संस्कार शेष)>कुरीट्ठुम्भर् (कु-गत 'उ' को गुण—ओ, एवं 'ट्ठु' के उत्तरवर्ती उकार का प्रकृत अक्षरद्वय से पूर्वप्रयोग)>कोरीउट्ठमर् (स्वयंभू अनुस्वार, उ>अ, ट्ठ्>ड्)>कोरी अं-ड्मर् (मकार और रकार का परस्पर विपर्यय)>कोरी अन्ड्रम् (री>रि)>कोरि-अन्-ड्रम्—फ्रेंच, लैटिन।

कोरि अन् ड्मर् (रलोप)>कोरि अन् डम ('ड' को पूर्वसवर्ण—न)>कोरि-अन्-नम्—ग्रीक। कोरि अन् ड्मर् (म-लोप)>कोरि-अन्-डर्—अँग्रेजी।

दूसरी ओर 'बलीवर्द' के बली>बैल और वर्दः>बद्द (धौलपूर), वरदा के समान अलग-अलग तो नहीं पर 'कुस्तुम्बुरी' के सुट्-विशिष्ट 'कुस्' के योग के बिना 'तुम्बुरी' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इसके व्यवहार-क्षेत्र प्रायः सीमावर्ती प्रदेश जाने जाते हैं। नेपाल, कुमायूँ, कश्मीर तथा पंजाब में इसका व्यवहार होता है। पालि में तिम्बुरु,[1] तिम्बरुक्ख और तिम्वरूसक[2] शब्दों का प्रयोग 'तिन्दुकफल' अर्थ में मिलता है। प्राकृतभाषा में तेंदू के पेड़ के लिए चार शब्द व्यवहृत हुए हैं—तुंबुरु (दे ४।३), टिंबरु, टिंबरुअ (दे ४।३; उपदेशपद १०३१ टी०) और तिम्बरुणी[3]। नेपाल देश में तिमुर् नामक झाड़ियाँ होती हैं[4]। इसकी छाल तथा बीज अजीर्ण (मन्दाग्नि), ज्वर एवं विषूचिका में सुगन्धित और बलकारक औषध (Tonic) के रूप में उपयुक्त होते हैं और मसालों के रूप में व्यवहृत होते हैं। इनकी छोटी-छोटी टहनियाँ दातून के रूप में प्रयुक्त होती हैं। दन्त-पीड़ा और विकृत जुकाम को ठीक करने के लिए भी इनका भंग के साथ उपयोग किया जाता है।

कुमायूँ में इसे 'तिम्बूर' के नाम से जाना जाता है। पंजाबी भाषा में यह तिम्बर और तीम्रू (<तुम्बरी) के नाम से प्रसिद्ध है[5]। काश्मीरी भाषा में इसे तींबर तथा तींब्रू कहते हैं[6]। गर्म मसाले के रूप में प्रयुक्त होने वाले इनके (कालीमिर्च बराबर) बीज को हिन्दी में 'तुंबर्'[7] (<तुम्बुरु) कहते हैं।

---

१. जातक ६।२३६ ;=वृक्षविशेष। सुत्तनिपात ११० जातक ६।४५७ (सुत्तनिपात A १७२ : तरुणदारिका)

२. विनय ३।५६; विमानवत्थु ३३[27] (= तिन्दुकफल—विमानवत्थु A १४७; तिपुससदिसा एका वल्लिजाति तिम्ब्ररूसकन् ति च वदन्ति); धम्मपद A ३।३१५.

—P. T. S. Pali Dictionary

3. Gramatik Der Prakrit Sprachen. 218.

4. Ralph Liliey Turner : Comparative And Etymological Dictionary Of The Nepali Language.

5. Punjabi Dictionary.

6. G. A. Griersen : Dictionary Of The Kashmiri Language.

७. 'तुंबुरी=धनियाँ। तुंबर * तथा तुंबुरु=१—धनियाँ, २—एक प्रकार के पौधे का बीज जो धनियाँ के आकार का पर कुछ-कुछ फटा हुआ होता है। इसमें बड़ी झाल होती है। मुँह में रखने से एक प्रकार की चुनचुनाहट होती है और लार गिरती है। दाँत के दर्द में इस बीज को लोग

निष्कर्षतः कुस्तुम्बुरी, कुस्तुम्बरी, कुस्तुम्बुरु, तुम्बुरु, तुम्बुरी और तुम्बरी शब्द वनस्पति-विशेष अर्थों को व्यक्त करते हैं। पहला (कुस्तुम्बरी) शब्द धनियाँ और दूसरा (कुस्तुम्बुरु, तुम्बुरु) जंगली धनियाँ का वाचक है।

संक्षेपतः यद्यपि वैदिक भाषा के अनेक ग्रन्थों के लुप्त हो जाने के कारण सुश्रुत को छोड़कर इसका प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है तथापि हमें विश्व-स्थित आर्य-भाषाओं[1] के सहयोग से विकासश्रृङ्खला का अविच्छिन्न परिज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

दाँत के नीचे दबाते हैं। वैद्यक में यह गरम कड़ुआ, चरपरा, अग्निदीपक तथा कफ वात शूल आदि को दूर करने वाला माना जाता है। इसे बंगाल में नेपाली धनियाँ कहते हैं।'—हिन्दीशब्दसागर।

१. मराठी—कोथिंबीर; गुजराती—कोथमी, कोथमीर; महाराष्ट्री प्राकृत—कोथंबरी-, बिरी। दही आदि पड़े हुए सलाद को मराठी में कोशिंबीर कहते हैं। कानड़ी में यह कोस्तुंबरी रूप में मिलता है। हरे धनियाँ से यह कच्चे फल और हरित शाकों में संक्रान्त हो गया।

बुन्देलखण्डी भाषा में व्यवहृत

टोंका शब्द के विकास का इतिहास

भारतीय आर्यभाषाओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम के परीक्षण में निम्न-लिखित वाङ्मय-सामग्री अपेक्षणीय होती है—

१—वैदिक साहित्य, २—वाल्मीकीय रामायण, ३—महाभारत, ४—काव्य नाटक आदि साहित्य, ५—पालि, ६—प्राकृत, ७—शिलालेख, ८—अपभ्रंश, पैशाची आदि, ९—प्रादेशिक भाषाएँ और हिन्दी।

कुछ शब्दों का विकास वैदिक भाषा से सीधे प्रादेशिक भाषाओं में दृष्टि-गोचर होता है। मध्य-काल की (वाल्मीकीय आदि संस्कृत तथा पालि-प्राकृत आदि) विकास-शृङ्खला सर्वथा विच्छिन्न, विलुप्त रहती है। यह अक्रमिक विकास-कार्य मण्डूक-प्लुति न्याय द्वारा ज्ञातव्य है। स्थलचर पशुओं की गति का ज्ञान उनके क्रमिक पद-विन्यास द्वारा सुशक्य है। मेंढक की गति का ज्ञान उस प्रकार संभव नहीं है क्योंकि वह क्रमशः पद-विन्यास नहीं करता प्रत्युत उछाल लगाकर मध्य-भाग छोड़ता चला जाता है। उसकी गति का प्रभाव बीच के स्थान को अछूता रखता है। यही बात कभी-कभी भाषा-विकास में घटित होती है।

धूलि तथा कन्या अर्थ वाला गर्दा शब्द तैत्तिरीय संहिता (३।१।११।८) में उपलब्ध होता है। वेद से परवर्ती संस्कृत, पालि एवं प्राकृत साहित्य में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। हिन्दी में ठीक उसी रूप में सुरक्षित इसका प्रयोग दर्शनीय है। संभवतः यह संस्कृत से फारसी—'गर्द' तथा फारसी से होता हुआ हिन्दी में आया हो। विकृत न हो पाने के कारण इसके शाखा-विकास को समझना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी प्रकार टोंका (<तोकम्) शब्द ऋग्वेद आदि में तो प्रयुक्त हुआ है पर संस्कृतोत्तर मध्य काल में इसका विकास तथा प्रयोग सर्वथा विलुप्त है। पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ केवल बुन्देलखण्डी भाषा को छोड़कर। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत से इसका सीधे बुन्देलखण्डी भाषा में कूद जाना मेंढक-उछाल को द्योतित करता है। टोंका शब्द यद्यपि संस्कृत से सीधा विकसित होकर बुन्देलखण्डी में आया है तथापि यह गर्दा शब्द के समान विकृति-शून्य नहीं है। इस पर शौरसेनी प्राकृत की छाप है।

बुन्देली के शिशुवाचक टोंका शब्द के विपरीत एक अन्य टोंका शब्द हिन्दी में प्रचलित है। उसके अर्थ होते हैं—(१) छोर, सिरा, किनारा; (२) कोना,

नोक तथा (३) वह जमीन जो नदी में कुछ दूर तक चली गयी हो। इस शब्द का विकास स्तोक (= थोड़ा) शब्द से हुआ है। स्तोकः>तोका (त>ट) >टोका (स्वयंभू अनुस्वार)>टोंका। उर्द की फसल को हानि पहुँचाने वाला एक कीट-विशेष भी 'तोका' नाम से प्रख्यात है। इन दोनों शब्दों के अतिरिक्त बुन्देली में छिद्र अर्थ का वाचक एक तीसरा शब्द भी प्रचलित है—(टोंकौ) टोंका। इसे टुकला या टुकलौ भी कहा जाता है। टुकला शब्द टुकड़ा का अपर विकसित रूप है। यह दोनों शब्द स्तोक से संबद्ध हैं। शिशु अर्थ वाले तोक शब्द का संबन्ध स्तोक से अवश्य है। शिशु अल्प होता है। 'स्तोक' में सकार का विकास मननीय है।

शिशु-अर्थक टोंका शब्द का मूल ऋग्वेद में उपलब्ध होता है—'तोकं पुष्येम तनयं शतं हिमाः'—१।६४।१४ तथा 'पश्वे तोकाय तनयाय जीवसे'—ऋ० १०।३२।१२। शतपथ ब्राह्मण में यह प्रजा के रूप में आया है—'प्रजा वै तोकम्'—७।५।२।३६। प्रकृत शब्द का भारोपीय रूप है— * तेउक् = मूल, बीज। अवेस्ता में—तओक्स्मन्=बीज; पुरानी पर्सियन् में—तौमा = उत्पादन; नवीन पर्सियन् में—तुक्स्म = बीज, उत्पादन; तथा लिथुआनियन (जेम) में—तौकस्, तौकै = स्थूल, प्रभु अर्थ होते है। इन सबकी तुलना तोक्म (= हरा जौ) शब्द से करनी चाहिए। हरित यव से भी शिशु अर्थ द्योतित होता है।

श्रीमद्भागवत में प्रयुक्त शिशु अर्थ वाला तोक शब्द—'तोकेन जीवहरणम्'—२।७।२७। इसकी व्युत्पत्ति—'तौति=पूरयति गृहम्' (= जो घर को परिपूर्ण कर दे) के अर्थानुसार पूर्त्यर्थक √तु (सौत्र) धातु से बाहुलकात् 'क' प्रत्यय-पूर्वक (तोक) होती है।

जिस प्रकार 'तुच्छः' शब्द के आदि तकार के स्थान पर टकार होकर तुच्छः >(छ को पूर्वसवर्ण—च) टुच्चा हो जाता है, 'तुण्डिः' के तकार के स्थान पर टकार द्वारा—तुण्डिः>टुंडी हो जाता है उसी प्रकार 'तोक'-गत आदि तकार के स्थान पर टकार—तोकः>टोका बोधनीय है। जिस प्रकार सर्पः>साप>साँप तथा हस्त>हात>हाँत में स्वयंभू अनुस्वार हो जाता है उसी प्रकार टोका> टोंका में वेदितव्य है।

बुन्देलखण्डी भाषा में व्यवहृत

'दलाँकबौ' क्रिया के विकास का इतिहास

किसी भी भाषा के अध्ययन हेतु प्रामाणिक प्रयोग-सामग्री नितराम् अपेक्षणीय होती है। प्रयोग-साक्ष्य के अभाव में निकाला गया निष्कर्ष भ्रान्त भी हो सकता है और घुणाक्षरन्यायेन यथार्थ भी।

भाषाविकास के शृङ्खलाबद्ध अध्ययन का सुचारुरूपेण किया जाना तभी संभव है जब हमें संबद्ध भाषाओं के क्रमिक प्रयोग उपलब्ध हों। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण अध्ययन न हो पाने का प्रमुख कारण उनकी अनुपलब्धि है। आज अनेक वैदिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। शिल्पशास्त्र की प्रभूत पुस्तकें नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं। आक्रमणकारियों के विध्वंसात्मक असंख्य आक्रमणों ने पुस्तकालयों को भस्मसात् कर डाला। ऐसी स्थिति में शब्दों के इतिहास पर प्रामाणिक रूप से लिखना अत्यन्त दुःसाध्य कार्य है।

प्रयोग-सामग्री के अभाव में लोकप्रमाण शीर्षण्य माना जाता है। महाभाष्यकार ने इसे लोकविज्ञान नाम दिया है। उससे भी पहले श्रीकृष्ण ने इसे लोकसंग्रह के नाम से संबोधित किया था[1]।

लौकिक संस्कृत में ऐसे अनेक क्रिया-रूप उपलब्ध नहीं होते जिनकी चर्चा संस्कृत धातुपाठों में की गयी है। लोक में अत्यधिक मान्यताप्राप्त पाणिनीय धातुपाठ में हजारों ऐसे धातु हैं जिनके प्रयोग लौकिक या वैदिक किसी भी संस्कृत में नहीं मिलते। प्रयोगों के ही आधार पर किसी व्याकरण की रचना की जाती है। प्रयोग न रहने पर धातुओं का कल्पना के आधार पर बना लिया जाना संभव नहीं। मौलिकता प्रदर्शन के अहं से कोसों दूर समन्वयवादी पाणिनि द्वारा यह सर्वथा अकल्पनीय था। तब प्रश्न उठता है—फिर ये अप्राप्त-प्रयोग धातु संस्कृत वाङ्मय में कहाँ से आ टपके?

उत्तर में निवेदन है—पाणिनि जैसे प्रामाणिक मुनि द्वारा उपदिष्ट धातुपाठगत धातुओं को देखकर उनके प्रयोगों की पूर्वसत्ता का निश्चय होता है। या तो आज

---

१. 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'—गीता ३।२०

हमें उन ग्रन्थों का पता नहीं है जिनमें उक्त धातुओं के प्रयोग थे या फिर वे लोक-भाषा मात्र के विषय रहे। संस्कृत आज लोकभाषा रही नहीं अतः उसके अव्यावहारिक होने से उन-उन प्रयोगों का भी अन्त हो गया।

प्रथम हेतु से हमें कोई बल नहीं मिलता; नैराश्य ही हाथ लगता है; किन्तु द्वितीय हेतु हमारे सम्मुख सोचने-विचारने का सुविस्तीर्ण क्षेत्र उपस्थापित करता है। पश्चात्तन भाषाओं पर प्राक्तन लोकभाषाओं के संस्कार चिरस्थायी होते हैं। यदि कोई चिरकाल से अव्यवहृतप्राय पूर्ववर्ती भाषा की गवेषणा करना चाहे तो उसे उस भापा की परवर्ती भाषाओं का गम्भीर दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिए। उन भाषाओं मे आदि-भाषा के तत्त्व अनुस्यूत अवश्य मिलेंगे। इस अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रादेशिक भाषाओं की शरण लेनी चाहिए। नगर के संक्रमणकारी वातावरण ने सुपुरातन परम्परा को सुरक्षित नहीं रहने दिया। विदेशी शब्दों की भरमार ने वह पुरातनता विनष्ट कर डाली है।

आइए, बुन्देलखण्डी भाषा के 'दलाँकबौ' = दलाँकना शब्द के परीक्षण द्वारा हम पूर्वोक्त तथ्यों की वास्तविकता जानें। प्रस्तुत शब्द हिन्दी, व्रजभाषा, गुजराती, काश्मीरी, पंजाबी आदि किसी प्रादेशिक भाषा के कोश में उपलब्ध नहीं होता। सूरदास ने इस क्रिया से विकसित (पश्चाद्भव) रूप का उल्लेख अवश्य किया है—'जैसे सिंह आपु मुख निरखे परै कूप में दाँकै हो'। दाँकना क्रिया 'दलाँकना' की परवर्तिनी है। श्री रघुराज ने भी इस धातु से निष्पन्न कृदन्त संज्ञा का प्रयोग किया है—'जिमि सिंधुर गण वाँक में परै सिंह की दाँक'।

दलाँकना तथा दाँकना (दाँक) के मूल में पाणिनि का √द्राङ्क्ष् (द्राक्षि) १।६६४ घोरवाशिते काङ्क्षायां च (प) [= घोर शब्द करना और चाहना] धातु अवस्थित है। इस पाणिनीय धातु का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कहीं भी किसी भी (क्रिया या संज्ञा) रूप में प्राप्त नहीं होता। अतः विलियम् ड्वाइट् ह्विट्नी ने इसे अपने धातुपरिशिष्ट में स्थान नहीं दिया[1]। उनका अभिमत है कि इस प्रकार के धातु पीछे से वैयाकरणों ने भर दिये हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। गेअग् बूइलर् ने उक्त मत का प्रतिवाद करते हुए लिखा कि जिन धातुओं का ह्विट्नी ने प्रत्याख्यान किया है उनके प्रयोग पालि, प्राकृत, अपभ्रंश एवं प्रादेशिक भाषाओं में मिलते हैं। बूइलर ने उस लेख में

---

1. William Dwight whitney : Roots, Verb-Forms, And Primary Derivatives of The Sanskrit Language.

ह्विट्नी द्वारा प्रत्यादिष्ट अनेक धातुओं के प्रयोगों को भी निदर्शन-स्वरूप उपस्थापित किया[1]।

भावल्युडन्त द्राङ्क्षणम् का विकास 'दलाँकना' के रूप में इस प्रकार हुआ—द्राङ्क्षणम्>(स्वरभक्ति) दराङ्क्षणम्>(ङ्>अनुस्वार) दराँक्षना>(क्ष>ख, र>ल) दलाँखना>(ख>क) दलाँकना। खड़ी बोली के 'दाँकना' शब्द का विकास 'दलाँकना' के 'ल्' का लोप होने पर ज्ञेय है।

इसी क्रिया का एक अन्य रूप भी प्रचलित है—'डकराना'। विद्वज्जन इसे अनुकरणात्मक (Onomatopoetic) कहकर संतोष कर लेते हैं। हिन्दी-शब्द-सागर में इसे अनुकरणात्मक बताया गया है। वस्तुतः तथ्य ऐसा नहीं है। यद्यपि इसका विकास दराँक्षना>दराँकना के 'रा' तथा 'क' वर्णों का विपर्यय एवं 'द' को मूर्धन्य 'ड' करके बतलाया जा सकता है तथापि प्रामाणिकता के अभाव में यह बुद्धिकौशल ही समझा जाएगा।

इस संबन्ध में पाणिनीय धातुपाठ का एक धातु उल्लेखनीय है—√कर्द् (कर्द) १।५७ कुत्सिते शब्दे=खराब शब्द करना। सायण ने कुत्सित शब्द का अर्थ किया है—कौक्षे=कूँख=पेट का शब्द (डकारना)। संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय में इस धातु का क्रियारूप कहीं भी नहीं मिलता। कात्यायन-श्रौत-सूत्र २५।८ तथा महाभारत[2] १४।२६८३ में कर्दम शब्द का उल्लेख अवश्य हुआ है। वैयाकरण इस शब्द को √कर्द धातु से सिद्ध करते हैं (उणादि ४।८४;) पर हमें इस धातु के 'कुत्सित शब्द=डकारना' अर्थ तथा कीचड़ में कोई सांगत्य नहीं दिखता। हाँ, √चुम्ब् (चुबि) १।४२३ वक्त्रसंयोगे (प) धातु के 'प्रासाद आकाश को चूमते थे' प्रयोग के समान 'कौक्ष शब्द' अर्थ को कुत्सित अर्थ मात्र में लेकर 'कर्दम' का 'पिच पिच' रूप अर्थ माना जा सकता है।

हेमचन्द्र ने[3] √कर्द् धातु के भावल्युडन्त 'कर्दनम्' का उल्लेख 'उदर शब्द' अर्थ बतलाते हुए किया है। यह 'कर्दनम्' 'क' तथा 'द' के विपर्यय होने पर 'दर्कणम्' हो जाएगा। इसका द्विधा विकास यों ज्ञेय है—(क)—दर्कणम्>डक्कनम् (संयोगे गुरुः)>डाकना ('न' के प्रभाव के कारण नहीं किन्तु द्वितीय

1. W. Z. K. M. VIII Band 1894, P. 17–42.

2. Otto Böhtlingk, Rudolf Roth : Sanskrit wörterbuch

३. 'पर्दनं गुदजे शब्दे कर्दनं कुक्षिसंभवे'—अभिधानचिन्तामणि, श्लोक-संख्या १४०३.

व्यञ्जन के रूक्ष होने के कारण पूर्ववर्ती स्वर को स्वयंभू अनुस्वार । यथा हाथ> हाँथ, सर्प>सप्प>साप>साँप आदि)>डाँकना = गर्जना (हिन्दी) । डक्क= वाद्यविशेष— सुपासनाहचरिअ १९५ । डिक्कइ = साँड़ का गरजना—षड्भाषा चन्द्रिका । और दूसरा—

(ख)—दर्कणम् (स्वरभक्ति, 'र-क'–विपर्यय तथा 'द>ड')>डकरना> डकारना = डकार लेना (उदर-शब्द) 'क' के आगे 'आ' का बल न देकर 'र' के आगे देने पर रूप होगा—**'डकराना'** । यह क्रिया-रूप पशुओं के गरजने के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, मनुष्यों के नहीं ।

समष्टितः √द्राङ्क्ष् और √कर्द् धातुओं के विकास का सादृश्य इतना अधिक है कि उनका पार्थक्य शीघ्र समझ में नहीं आ पाता । √कर्द् धातु के 'कर्दन'>दर्करण से भी (स्वरभक्ति, र>ल तथा 'ल' के आगे 'आ' का बल) दलाकना (स्वयंभू अनुस्वार)>**दलाँकना** का विकास संभव दिखने लगता है । भाषाविज्ञान के क्षेत्र में ऐसे अनेक स्थान हैं जहाँ बहुज्ञ विद्वानों के चित्त में भी द्वैविध्य उत्पन्न हो जाता है ।

वस्तुतः बैल आदि के गर्जनार्थक दलाँकना, डकराना, डकारना, डाँकना, दाँकना आदि शब्दों के मूल में √द्राङ्क्ष् (द्राक्षि) धातु संनिविष्ट है । इस धातु का अर्थ है—घोरवाशित = घोर शब्द करना । वाशित शब्द का प्रयोग पशु-पक्षियों के बोलने में आधिक्येन मिलता है । अत एव बोपदेव के 'घोररुत' अर्थ की टीका करते हुए दुर्गादास ने लिखा है—'घोररुतमिह तिरश्चामेव घोर-शब्दः' = √द्राङ्क्ष् धातु पक्षियों (पशुओं) के चिल्लाने (दहाड़ने) में ही निर्धारणीय है ।

काश्मीरी भाषा का 'डाँ' शब्द गाय के चिल्लाने अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसे अनुकरणात्मक (Onomatopoetic) बताया गया है[1] । उसी भाषा में खर = जोर से चिल्लाने के अर्थ में एक शब्द और मिलता है—**टाँग्-टाँग्** = गधे के समान चिल्लाना । यह दोनों शब्द अनुकरणात्मक नहीं हैं किन्तु √द्राङ्क्ष् धातु से विकसित हैं । 'डाँ' शब्द सुस्पष्टतः 'कना' रहित ध्वनिसमुदाय है । द्वितीय शब्द—√द्राङ्क्ष्>दाङ्>डाङ्>**टाङ्** का द्वित्व-रूप है ।

हिन्दी का 'दहाड़ना' शब्द भी इसी √द्राङ्क्ष् धातु से संबद्ध है । उक्त धातु में छै ध्वनियाँ समन्वित हैं—द्-र्-आ-ङ्-क् और ष् । (द् के आगे स्वरभक्ति, र्>ड़, ष्>ह्, ङ् और क् का लोप) फलतः 'द ड़् आ ह्' स्थिति हुई । ड़् तथा ह् का विपर्यय—**दहाड़्** ([अना] ल्युडन्त)—**दहाड़ना** ।

1. G. A. Griersen : Dictionary Of The Kashmiri Language.

बुन्देलखण्डी भाषा में व्यवहृत
'परोरबौ' क्रिया के विकास का इतिहास

हिन्दी भाषा के सभी कोशकार इस क्रिया (नामधातु) की व्युत्पत्ति के संबन्ध में मूक हैं। अन्य भाषाओं में इसके व्यवहृत न होने के कारण उनके मौन के विषय में प्रश्न ही नहीं उठता।

× × × ×

वैदिक साहित्य में दो क्रियाएँ उपलब्ध होती हैं—√पल्पूल तथा √पल्यूल[1]। इन दोनों का अर्थ होता है—१-काटना और २-स्वच्छ (शोधन) करना। विलियम् ड्वाइट् ह्विट्नी ने अपने परिशिष्ट[2] में इस धातु को स्थान नहीं दिया। काठक तैत्तिरीय शौनक और पैप्पलाद संहिताओं तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में √पल्पूल धातु के प्रयोग उपलब्ध हैं[3]। उक्त धातु की छै आकृतियाँ अथवा पाठभेद मिलते हैं—१-√पल्यूल (पाणिनीय), २-√पल्युल (वोपदेव), ३-√पल्पूल (हेमचन्द्र), ४-√पप्पूल (हेमचन्द्र), ५-√वल्यूल (दौर्ग) और ६-√पल (काशकृत्स्न)[4]। इन सब आकृतियों के अर्थों में भेद नहीं है। केवल क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत दुर्ग के √पल्यूल् धातु में 'पवन' के स्थान पर 'पतन' अर्थ-भेद मिलता है। स्यात् यह पाठभेद प्रादेशिक विशेषताओं को व्यक्त करते हैं।

---

१. √पल्पूल १०।३४८ लवनपवनयोः (प)—हेमचन्द्र। √पल्यूल १०।३२८ लवनपवनयोः (प)—क्षीरस्वामी, मैत्रेय, सायण, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन और हेमचन्द्र; लूनिपूत्योः—वोपदेव; लवनपतनयोः'—इति दुर्गः—क्षी० (द्र० पाणिनीय धातुपाठसमीक्षा)।

2. Roots, Verb-forms, And Primary Derivatives Of The Sanskrit Language.

३. 'पल्पूलयति'—काठसं० १६।६; 'पल्पूलयेयुः'—तैसं० २।५।५।६; शौसं० (अ० वे०) १२।४।६; पैसं० १७।६।६; 'पल्पूलयति'—तैब्रा० १।३।५।२; 'पल्पूलनम्'—शौसं (अ० वे०) १२।४।७.

४. √पल १०।२१३ लवनपवनयोः (प)।

प्राकृत भाषा में एक शब्द विद्यमान है—पडिऊल[1] (<प्रतिकूल)। यद्यपि वैदिक√पल्यूल धातु का संबन्ध उक्त शब्द से जोड़ा जा सकता है—पडिऊल > पलिऊल > पल्यूल, तथापि 'पवन'=पवित्रता अर्थ का बोध इससे दुष्कर है। दुर्गोक्त√पल्यूल धातु में पवित्रता अर्थ नहीं है। वहाँ 'लवन' और 'पतन' दोनों में ही प्रतिकूलतारूपेण इसका सांगत्य हो जाता है। कुछ विद्वान्√पल (काशकृत्स्न) और संघातार्थक√पूल अथवा पालन-पूरणार्थक√पॄ धातुओं के योग से उक्त धातु की संगति लगाते हैं।

हमारे मतानुसार 'पल्पूल' शब्द 'प्रप्लुत' के अर्थ का अभिधायक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में √प्लु (प्लुङ्) धातु के प्रयोग के अनन्तर उसी अर्थ में√पल्पूल को पढ़ा गया है। वहाँ सायण ने भी 'पल्पूलयति' का अर्थ 'प्लावयति' किया है। यह 'प्लावन', शोधन की पूर्वक्रिया है। 'प्लावन' का अर्थ होता है—'जलार्द्र करना'; और जलार्द्र=स्नात वस्तु शुद्ध हो जाती है। अतः तैत्तिरीय संहिता में सायण ने 'पल्पूलन' का अर्थ किया है—'वस्त्रशुद्धिसाधन' और 'पल्पूलयेयुः' का (अर्थ किया है) 'शोधयेयुः'=शोधन[3]।

प्राकृत भाषा में 'पप्पुअ' (≮प्रप्लुत) का अर्थ होता है—जलार्द्र, पानी से भीगा हुआ। प्रप्लुत > पल्पूल > पप्पूल (> पप्पूअ > पप्पुअ—प्राकृत भाषा) विकास मननीय है। केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'पल्यूलयति' यकारघटित प्रयोग मिलता है किन्तु वह 'पल्पूलयति' का पाठभेद मात्र प्रतीत होता है। हस्तलेखों में पकार का यकाररूपेण समझा जाना स्वाभाविक है।

---

१. अच्चुअसअअं ८०; सेतुबन्ध ३।३५।

२. 'तदनुवेनन्ववप्लवते, यदप्सु पल्पूलयति। बहु वा अश्वोऽमेध्यमुपगच्छति। मेध्यानेवैनान् करोति'—तैब्रा० १ काण्ड, ३ प्रपाठक, ५ अनुवाक, २ मन्त्र।

— 'पल्पूलयति=जले प्लावयति। प्रक्षालयतीत्यर्थः'—सायणभाष्य।

३. 'नास्य पल्पूलनेन वासः पल्पूलयेयुः' तैसं० २ काण्ड, ५ प्रपाठक, ५ अनुवाक, ६ मन्त्र।

—'पल्पूलनम्=वस्त्रशुद्धिसाधनम् ऊषादि (=क्षारमृत्तिकादि) तेनास्य वस्त्रं न शोधयेयुः'—सायणभाष्य। 'पल्पूलयतिः=स्नानकर्मा'—भट्टभास्करभाष्य (मैसूरसंस्करण, १८२१ पृष्ठ)।

तैत्तिरीय संहिता, पैप्पलाद संहिता, शौनक संहिता और अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में ल्युडन्त 'पल्पूलन' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है 'पल्यूलन' नहीं। तै० सं० के पल्पूलन का सायण ने अर्थ किया है—'वस्त्र-शुद्धि-साधनम्'। अथर्ववेद (१२–१६ काण्ड पर्यन्त) और पै० सं० पर सायण-भाष्य उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेद में 'पल्पूलन' शब्द के अनन्तर शकृत् (=गाय के प्रसङ्ग से 'गोबर') शब्द पठित है। अतः पण्डित जयदेव जी शर्मा ने 'पल्पूलन' का अर्थ 'मूत्र' किया है। स्मरण रहे कि कुछ प्रतियों में 'सकृत्' (= एक वार) पाठ भी उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में 'पल्पूलन' का अर्थ मूत्र किया जाएगा या गोबर ? ठाकुर उदयनारायण सिंह ने 'तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति' सूत्र-गत पल्पूलन का अर्थ किया है—'गौ का गोबर'। बुन्देली भाषा की पलपलाबौ या पुल्पुलाबौ क्रिया 'गोमयोत्सर्ग' अर्थ में प्रयुक्त होती है। यद्यपि ये सब प्रमाण 'पल्पूलन' के गोमय अर्थ को अधिकतः पुष्ट करते हैं तथापि उक्त शब्द शोधन द्रव्य मात्र में प्रयोजनीय हो सकेगा। प्रसङ्ग के अनुसार अर्थ-परिवर्तन होते हैं।

उक्त विवादों के समाधान के लिए हमें प्रादेशिक भाषाओं की शरण लेनी पड़ेगी। उनमें प्रचलित प्रयोगों के आधार पर निर्णय करने में सुकरता और सुस्पष्टता होगी। उत्तरप्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों में 'परोरना' का प्रयोग 'अभिमन्त्रित करना, मन्त्र पढ़कर फूँकना' अर्थ में प्रचलित है। इस अर्थ से जल का संस्कार अथवा किसी वस्तु का शुद्धीकरण अभिप्रेत है। बुन्देलखण्डी 'परोरबौ' क्रिया प्लवन तथा पवन उभय-अर्थ-बोधिका है। यह क्रिया 'शूर्प-संपाद्य क्रिया-विशेष' अर्थ में व्यवहृत होती है। सूप से तीन क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं—१–परोरना, २–पछोर (ड़) ना [नुकायना] और ३–फटकना। सूप को अगल-बगल हिलाने से बारीक लवन (= धान्य) नीचे रह जाता है और मोटा ऊपर आ जाता है। सूप में स्थित अनाज को इस ढंग से उछालकर उसके पिछले कोनों से टकराया जाता है कि कंकड़ या बारीक दाने उस (सूप) के अग्रभाग में आ जाते हैं। सूप में रखे अनाज को इस प्रकार वहीं का वहीं उछाला जाता है कि धूल और भुस आदि उड़कर निकल जाते है। परोरबौ और पछोरबौ में अतीव सूक्ष्म भेद है; उसे विश्लेषण द्वारा जाना जा सकता है। वस्तुतः यह दोनों कार्य एक ही क्रिया के दो भाग हैं।

उक्त 'परोरबौ' क्रिया में 'लवन तथा पतन' दोनों अर्थ अनुस्यूत मिलते हैं। मोटे अनाज को बारीक अनाज से काट देना = पृथक् कर देना या अनाज से

कंकड़ प्रभृति को पृथक् कर देना 'लवन' का अर्थ हुआ। यही 'लवन' अर्थ अनाज से कूड़ा के दूर फेंके जाने पर, पवन = वायु या पावित्र्य अर्थ में परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि लवन (= अनाज ?) का पतन (= सूप में पटकना) या पवन = स्वच्छता अर्थ भी किया जा सकता है तथापि षष्ठी समास करने पर 'लवनपतनयोः' का द्विवचन संगत न हो सकेगा।

संक्षेपतः 'परोरबौ' क्रिया का विकास इस प्रकार बोधनीय है—पल्पूल (या पल्यूल) > [द्वितीय पकार अथवा यकार का लोप] पलूल > पलोल √परोर (बौ)। बाँहों को (लवन का लाक्षणिक अर्थ) ऐंठने और उनके भराव या पुष्टता को देखने के अर्थ में 'पपोरना' प्रादेशिक क्रिया मिलती है[1]। हिन्दीशब्द-सागर में इसे देशी लिखा गया है। मेरे मतानुसार इसका विकास इस प्रकार हुआ है —'पल्पूलन > पप्पूलन (हेमचन्द्र) > पपोलन > पपोरना।

वस्तुतः √पल्पूल में अनुस्यूत √प्लु (प्लुङ्) धातु का अर्थ होता है 'गति'; पर यह प्रायशः 'उछलना' अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है। अतः उछलने के कारण बन्दर और मेंढक का नाम 'प्लव' रखा गया है। मेंढक की उछाल के संबन्ध में 'मण्डूकप्लुति' नामक एक न्याय भी प्रचलित है। कूद-फाँद कर उड़ने वाले पक्षी को भी 'प्लव' कहते हैं[2]। इस धातु का दूसरा अर्थ 'तरना' (तैरना) मिलता है[3]। प्रकृत धातु के णिजन्त-रूप 'तरण' या प्लावन अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं। णिज्-रहित प्रयोगों में जलार्द्रता-भाव को व्यक्त करने के निमित्त 'प्र' उपसर्ग की योजना प्राकृत भाषा की अपनी विशेषता है। अतः प्रप्लव > पल्पुल < पल्पूल तथा प्रप्लुत > पप्पुअ का विकास वैदिक काल से पहले की भाषा में जलार्द्रता अर्थ को व्यक्त करने वाले 'प्र + √प्लु' धातु के प्रयोग का अस्तित्व साधित करता है। यह जलार्द्रता अर्थ क्रमशः प्रक्षालन > प्रक्षारण और शोधन अर्थों में संक्रान्तिपूर्वक विकसित हो गया। बुन्देलखण्डी परोरना' क्रिया में शोधन के साथ-साथ 'प्लवन = उछालना' भी अभिप्रेत है। 'उछालने के साथ

---

१. 'कंस लाज भय गर्वजुत चल्यौ पपोरत बाँह'—व्यास (हि०श०सा०)।

२. 'कलविङ्कं प्लवं हंसम्'—मनुस्मृति ५।१२।

३. 'क्लेशोत्तरं रामवशात् प्लवन्ते'—रघुवंश १६।६०=तरन्ति (संजी०)।

प्लवन्ते प्रस्तरा नीरे मानुषा घ्नन्ति राक्षसान्।
कपयः कर्म कुर्वन्ति कालस्य कुटिला गतिः॥

—उद्भटसागर, प्रथम प्रवाह, १४२ वाँ श्लोक।

शोधन' का आशय प्रस्फोटन (>पप्फोडण [-ओघनिर्युक्ति भाष्य ६३]>पछोड़ना >पछोरना) की ओर इङ्गित करता है। इन समस्त अर्थों की खोज के पश्चात् भी पाणिनीय तथा अन्य धातुपाठों के 'लवन' अर्थ की युक्तियुक्त संगति कहीं भी लगती नहीं दिखती। मेरे मतानुसार तो इस 'लवन' के स्थान पर 'प्लवन' होना चाहिए। अतः वहाँ 'प्लवनपवनयोः' पाठ गवेषणीय है।

मूँछ शब्द के विकास का इतिहास

किसी भी शब्द के मूल तक पहुँचने के विश्लेषण को व्युत्पत्ति कहते हैं—वि = विशेषतः + उत्पत्ति। संस्कृत भाषा में विकास यद्यपि हुए हैं तथापि उन पर इस दृष्टि से विचार नगण्यप्राय किया गया है। अतः संस्कृत के विकासात्मक इतिहास का पता न लग सकने के कारण उन-उन शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए धातु और प्रत्यय को खोज लेने में ही इतिकर्त्तव्यता की चरम सीमा समझ ली जाती है। इस दशा में निश्चयविहीनता के फलस्वरूप एक शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ कर ली जाती हैं, अर्थ-सङ्गति भले ही न बैठे।

स्वयं निरुक्तकार एक शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ दिखलाते है। लोम शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में वे लिखते हैं—'लोम लुनातेर्लीयतेर्वा' ३।५ = लोम शब्द की व्युत्पत्ति छेदनार्थक √लू धातु अथवा श्लेषणात्मक √ली धातु से समझी जानी चाहिए। निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति के लिए वे नि + √हन् और नि + √गम् दोनों धातुओं को प्रस्तुत करते हैं। सत्य एक होता है।

इसी प्रकार अन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जाती है—१–बन्धनार्थक √अन्त् (अति) १।५९ धातु से औणादिक ४।१५९ ष्ट्रन् प्रत्यय। २–काशकृत्स्न जीवनार्थक √अन्त् १०।५ धातु को पृथक्शः पढ़ते हैं। यह धातु पाणिनीय संप्रदाय में नहीं है। ३–√अम् १।४५६ धातु से दशोणादि ४।१५६ तथा उणादि ४।१२३ में ष्ट्रन् प्रत्यय किया जाता है।

क्षीरस्वामी अमरकोशोद्घाटन में अभ्र शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से तथा भानुजिदीक्षित रामाश्रमी टीका में तीन प्रकार से दिखलाते है—१–न भ्राजते= जो दीप्त नहीं होता है—दीप्त्यर्थक√भ्राज् (भ्राजृ) धातु। २–अपो राति वा = जो जलदान करता है। १–भानुजिदीक्षित के मत में—न बिभर्ति किञ्चित् = जो कुछ भी धारण नहीं करता। २–आपो भ्रश्यन्त्यस्मात् = जिससे जल गिरे। ३–अभ्रति = 'स्थैर्य को प्राप्त होने वाला'—गत्यर्थक√अभ्र् धातु।

इसी प्रकार का अनिर्धारण श्मश्रु शब्द की व्युत्पत्ति में पाया जाता है। इसकी त्रिधा व्युत्पत्ति प्रस्तूयमान है—१–श्म = मुखं [श्मश्रु शब्द की टीका में भरत] श्रयति = आश्रयति—'जो मुँह का आश्रय ले वह श्मश्रु—श्म + √श्रि + डुन् प्रत्यय [उणा० ५।२८]। २–निरुक्तकार के अनुसार—श्म = शरीरम्। शरीरं

श्रृणातेः शम्नातेर्वा । श्मश्रु = लोम, श्मनि श्रितं भवति । लोम लुनातेर्लीयतेर्वा—३।५ = 'श्म शरीर को कहते हैं । शरीर की व्युत्पत्ति√शॄ अथवा√शम् धातु से होती है । लोम शरीर का आश्रय लेता है । लोम की व्युत्पत्ति छेदनार्थक√लू धातु अथवा श्लेषणार्थक√ली (लीङ्) धातु से समझनी चाहिए ।' आपने देखा ? निरुक्तकार एक बात नहीं करते । इसके अतिरिक्त वे श्म का अर्थ मुख नहीं किन्तु शरीर करते हैं । लोम की व्युत्पत्ति में भी वे अस्थिर हैं । ३–श्मनि = मुखे श्रूयते=उपलभ्यते = 'जो [परम्परया] मुख पर [सुनी जाती हो], उपलब्ध होती हो वह श्मश्रु ।' श्मश्रु में 'श्म' तथा 'श्रु' सुस्पष्ट प्रतीत होते हैं । फलतः उसकी 'श्रु' ध्वनि को √श्रु धातु से क्यों न व्युत्पन्न मान लिया जाए ? √श्रि (श्रिञ्) धातु से डु प्रत्यय करके 'श्रु' बनाने में सर्वथा गौरव होता है ।

निष्कर्षतः उपर्युक्त रीति वाली संपूर्ण व्युत्पत्तियाँ प्रायशः मनगढ़न्त होती हैं । लग गया तो तीर नहीं तो तुक्का । धातुओं के आधार पर तो शब्द बने नहीं हैं; किन्तु शब्दों के आधार पर धातुओं की कल्पना कर ली जाती है । तब यह निश्चय (जहाँ अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति की जा सके वहाँ) कैसे किया जा सकता है कि अमुक धातु को ही मन में रखकर अमुक शब्द गढ़ा गया है । विकसित शब्द की व्युत्पत्ति में यह सब विप्रतिपत्तियाँ नहीं हैं । वहाँ विकसित शब्द का मूल स्पष्टतया ढूंढ़ लिया जाता है ।

धातुमूलक इस व्युत्पत्ति आदि के झगड़े से मुक्ति पाने के हेतु कुछ अपर-पाणिनीय अपना भिन्न ही मार्ग अपनाते हैं । वह अत्यन्त भ्रामक होने के कारण लोगों को अज्ञान की ओर ले जाता है । सदोष अनुसंधान करने की अपेक्षा उसका न किया जाना श्रेष्ठ है । ऐसे व्यक्ति विकासात्मक 'मूंछ' शब्द की व्युत्पत्ति की तत्परता में श्म+श्रु, या श्म+√श्रि+डु आदि कुछ न दिखलाकर कहेंगे—जो मूं = मुँह पर, छ=छाई रहे वह मूंछ । फिर तो पूंछ की व्युत्पत्ति होने लगेगी—जो पों (<पोंद (बुन्देली)<पुन्द—यशस्तिलकचम्पू, ३ आश्वास, २५२ श्लोक)= नितम्ब पर छायी रहे वह पोंछ>पूंछ ! वास्तविकता तो है—पुच्छ>पूछ [स्वयंभू अनुस्वार]>पूंछ । यही इसका विकासात्मक इतिहास है । इसी प्रकार सूंड़ की व्युत्पत्ति 'जो सूं सूं करे वह सूंड़' करना सुतराम् अज्ञता तथा भाषा-भिज्ञता के अपच को बोधित करता है । संस्कृत के 'शुण्ड' का विकास 'संयोगे गुरुः' के अनुसार शुण्ड>सूंड>सूंड़ होता है 'सूं सूं करना' से नहीं । इसी प्रकार कुछ सज्जन खड़ाऊँ की व्युत्पत्ति करते हैं—खट खटाऊँ—'खड़ाऊँ' । यह सब अवि-चारितरमणीय मनोरञ्जन हैं, विवेकपूर्ण अनुसंधान नहीं । खड़ाऊँ की विकासात्मक

व्युत्पत्ति यों होगी—काष्ठपादुका (पादू)>काठपादू>खटपाऊ [स्वयंभू अनुस्वार] >खटपाऊँ [ट>ड>ड़]>खड़पाऊँ [प-लोप]>खड़ाऊँ।

दूसरे प्रकार की विकासात्मक व्युत्पत्तियाँ [जो संस्कृत से पश्चात्तन भाषाओं के शब्दों के संबन्ध में होती हैं] अत्यन्त निश्चयात्मक तथा ऐतिहासिक रूप में उपस्थापित की जा सकती हैं; पर हम [भारतीय] अपनी विद्वत्ता की इतिकर्तव्यता यथेष्ट काल्पनिकता के उड्डयन-मात्र में समझ लेते हैं। यह मार्ग, श्रवण (अध्ययन) मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ज्ञानप्राप्ति का नहीं है। इसे तो हम उतावलापन कहेंगे।

भारतीय आर्यभाषाओं में मूंछ शब्द का क्रमिक विकास प्रस्तूयमान है—

'इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभिः प्रुष्णुते'—ऋग्वेद ४,२६,७; 'वसेव श्मश्रु वपसि'—ऋ० वे० ४,१४२,४; केशश्मश्रु—शतपथब्राह्मण २,५,२,४८। [शतपथ-ब्राह्मण में श्मश्रु से पूर्व केश शब्द का प्रयोग मननीय है] श्मश्रु>[पालि में] मस्सु—दीघनिकाय २,४२; पुग्गलपञ्ञत्ति ५५; जातक ४,१५६>[प्राकृत में] मस्सु—संक्षिप्तसार १२>[स्वयंभू अनुस्वार] मंसू—समवायांग सूत्र ६०; औपपातिक सूत्र। वत्स शब्द के उपान्त्य सकार को छकार (>वच्छ) होने के समान यहाँ भी स् के स्थान पर छ् हो गया है—मंछू>[मकारोत्तरवर्ती अकार तथा छकारोत्तरवर्ती ऊकार का विपर्यय होने पर]—मूंछ>मोंछ।

इस प्रकार उक्त विकासात्मक इतिहास के विद्यमान रहने पर भी मूंछ शब्द की व्युत्पत्ति 'मुंह पर छाई रहने वाली' करना कहाँ तक संगत है। छायी मूंछ को कतर या काट देने पर संभवतः उसे 'मूंक' कहेंगे मुछारिया जी ! जो मूं=मुंह पर, क=कतर दी जाए ! वाह, तब तो भारतीय भाषाविज्ञान चूं चूं का मुरब्बा बन जाएगा। उसे साइकिल के हैंडिल या आसलेटिंग पंखे के सदृश चाहे जिस ओर घुमा दिया जा सकेगा।

अहा ! 'मूंक' की एकदेशीय शंका ने हमें विश्व-स्थित आर्यभाषाओं की स्मृति दिला दी। इण्डो यूरोपियन भाषा में मूंछ<श्मश्रु के लिए मूल शब्द है[1]—* स्मेक्। इसकी अन्तिम क् (कण्ठ्य) ध्वनि का उच्चारण संस्कृत आदि [शतम् परिवार की भाषाओं] में तालव्य होता है—श्। 'संस्कृत आदि शतम् परिवार की भाषाओं का 'श्' केन्टुम् परिवार की भाषाओं में 'क' हो जाता

1. Alois walde : Vergleichendes wörterbuch Indo-germanischen Sprachen herausgegeben und bearbeitet (Julius Pokor).

है'—यह पक्ष भी प्रस्फोरणीय है। इस * स्मेक् का अर्थ ठोड़ी एवं निचला जबड़ा होता है। श्मश्रु (संस्कृत)—[वर्णविपर्यय]>अर्मेनियन्—मौरुश्, मोरुश्=दाढ़ी। अल्बेनियन्—म्जेक्रे। इरिश्—स्मेछ। हिन्दी के समान इस भाषा में भी शकार का विकास छकार के रूप में हुआ है। लिथुआनियन्—स्मक्र= ठोड़ी। लेट्टिश्—स्मक्स्।

निष्कर्षतः श्मश्रु का द्विधा विकास हुआ—भारत में और भारत से बाहर। भारत तथा भारतेतर देशों की जलवायु और परिस्थितियों की भिन्नता के कारण एक 'श्मश्रु' शब्द की ध्वनियाँ भिन्न प्रकार से विकसित हुईं। किसी भी शब्द का विकास एक दिन में नहीं हो जाता। उसे विकसित होने के लिए अनेक मोड़-घुमाओं से गुजरना पड़ता है।

'करना' (करबौ) की तूती

मेरे पास एक सज्जन आये। मैंने उनसे पूछा—आप क्या करते हैं ? बोले—चखते हैं। मैंने कहा—यह भी कोई करना है ? बोले—'आपकी कृपा से डेढ़ सौ रुपया मासिक मिल जाता है।' मिठाइयों की एक सुविशाल दूकान पर वह कर्मकर था।

पूछा करना। उत्तर दिया चखना। चखना भी करना है ? जी हाँ, चखना ही नहीं, जो कुछ आप कहेंगे सब 'करना' होगा। विचकिए मत, आपको कुछ करना नहीं होगा। हाँ, जो कुछ आप बोलेंगे, सब सकर्मक या अकर्मक क्रिया के अन्तर्गत होगा। क्या कहा ? क्रिया भी अकर्मक होती है ? कर्म=क्रिया, कर्मक=क्रिया-सहित, अकर्मक = क्रिया-रहित। अकर्मक क्रिया = क्रिया-रहित-क्रिया। वाह भाई वाह ! आपने तो बिना करने का करना, बिना काम का काम लगा दिया। जी, 'करना' की यही तो विशेषता है। 'करना' (क्रिया) करने पर 'करना' = फल, न मिले तो वह करना अकरना-करना = अकर्मक क्रिया कहलाएगा।

कोई भी धातु-रूप क्रिया होता है। इसलिए सभी धातुओं का अर्थ 'करना' हो जाएगा। 'करना' के जो कुछ आप चाहें सब अर्थ होते हैं। आप कहेंगे कि 'हम इस विषय में आपकी परीक्षा करना चाहते है'। मैं निवेदन करता हूँ—'आप मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं'। श्रीमान् जी, आपके 'करना' का अर्थ 'लेना' है। कृपया आप मनीआर्डर 'करिए'। महानुभाव ! इस 'करना' का अर्थ हुआ— 'भेजना'

मेरे पारमार्थिक मतानुसार तो 'करना' के अतिरिक्त किसी धातु का कोई अर्थ होता ही नहीं। सुखम् ! अधिकं सुखम् !! कोश रटने का श्रम घटा। किसी भी धातु का अर्थ 'करना' रसना पर बैठ गया। जी नहीं, 'करना'-रसगुल्ला रसना-गत करना नहीं है प्रत्युत समुद्र का तरना। आइए, आपको उसकी विहार कराऊँ—

'आप भोजन पकाइए'। पकाना 'करना' के अतिरिक्त कुछ नहीं। दर्जनों कार्य करने के पश्चात् उन समस्त कार्यों के स्थान पर एक शब्द कह दिया जाएगा—'पकाया'। पकाना में 'करना' क्या है ? सुनिए—१-भोजन बनाने की इच्छा,

२-तत्पूर्त्यर्थं यत्न, ३-उठना, ४-कोयला आदि लाना, ५-चूल्हा उठाना, ६-कोयला भरना, ७-तेल डालना, ८-आँच लगाना, ९-दाल-चावल साफ करना, १०-बटलोई में पानी भरना, ११-चूल्हे पर चढ़ाना, १२-नमक आदि छोड़ना, १३-शाक छीलना, १४-दाल आदि चलाना, १५-आटा गूँधना, १६-दाल उतारना, १७-शाक छौंकना, १८-तवा चढ़ाना, १९-रोटी पोना, २०-सेकना आदि आदि 'करना' के अतिरिक्त 'पकाना' कुछ नहीं। 'पकाना' में सब 'करना' = क्रियाएँ सौ के आसपास तो हो ही जाएँगी। इन समस्त 'करना' के स्थान पर 'पकाना' कह दीजिए, 'करना' की जमात से मुक्ति मिली। 'पकाना' कहने पर सम्पूर्ण 'करना' का चित्र मानस-चक्षुओं के समक्ष क्रमशः नर्तन करने लगता है। अब बतलाइए, आप 'करना' कहना चाहेंगे या पकाना? इसी 'करना' की अनन्तता को समझ कर सरलता के निमित्त 'करना' के वाचक अन्य सब 'पकाना' आदि धातु बना दिये गये। वस्तुतः करना ही एक तथ्य है और सब अतथ्य। फिर 'करना' को क्यों छोड़ना। आइए, हम इसकी विशेषताओं से आपका परिचय कराएँ—

'करना' की सहायता से समस्त धातुरूपों का विवरण किया जाता है। 'करना' (क्रिया) का पर्यायवाची 'भाव' अथवा 'भावना' भी है। अतः भावल्युडन्त, भावघञन्त आदि शब्दों के साथ 'करना' संयुक्त होता है। 'जाँचना' का विवरण 'जाँच करना' हुआ। 'पकाता है' को 'पाक करता है' के रूप में बोल सकते हैं। इसी प्रकार लूटता है = लूट करता है, सेंकता है = सेंक करता है, मनाता है = मनौती करता है, देता है = दान करता है, चुनता है = चुनाव करता है, जानता है = जानकारी करता है, आदि प्रयोग ज्ञातव्य हैं। जानकारी, मनौती आदि भाववाचक तथा पाक, दान प्रभृति भावघञन्त और भावल्युडन्त शब्द हैं। यहाँ तक हमने धातुरूपों में अनुस्यूत 'करना' पर विवेचन किया। अब आइए, 'करना' के अनेक अर्थों पर विचार किया जाए—

'करना' व्यापार मात्र है। यह संपूर्ण उपक्रियाओं को अपने में उपगूहित रखता है। फलतः तत् तत् उपक्रियाओं का वाचक है। उपकरणों के सहकार से हम इस 'करना' की ठीक-ठीक व्याख्या करने में समर्थ हो सकते हैं। क्रिया-विभेद इस कार्य में पर्याप्त सहायता देता है। उदाहरणतः प्रस्तुत है—'गड्ढा करना'। यद्यपि यहाँ 'करना' क्रिया द्वारा भावाभिव्यक्ति पूर्णतः हो रही है तथापि अभिप्रेत क्रिया-चित्रोपस्थापन में 'करना' नितराम् असमर्थ है। ऐसी दशा में 'करना' से सम्बद्ध 'गड्ढा' का भावी चित्र उपस्थापनीय होता है।

गड्ढे के निमित्त प्रयुज्यमान उपकरणों की क्रिया 'खोदना' से अनन्य है। अतः 'करना' का अर्थ हुआ—खोदना। 'रिपोर्ट करना' में 'करना' का अर्थ हुआ—लिखाना (प्रयोजक)। रास्ता करना = देना, रास्ता से अलग हटना। टीका करना = बनाना, टीका (तिलक) लगाना। 'हाथ करिए' में करिए का अर्थ पसारिए, फैलाइए हुआ। दूकान करना = चलाना। खबर करो = दो, सुनाओ। नाम करना = कमाना, फैलाना। धुआँ करना = फैलाना, उड़ाना। बन्दूक करिए = सम्हालिए। बिछौना करना = बिछाना। चूल्हा करो = जलाओ। आग करो = जलाओ। चक्की करो = पीसो। आज्ञा करो = मानो, पालो। रोटी करो = पकाओ। चोटी करना = बाँधना। अञ्जलि करना = बाँधना। कंघी करना = (कंघी से) बाल सँवारना। पुत्र करना = उपजाना। दही करना = जमाना। चूना करना = पोतना। दातून करना = घिसना। मुँह करना = फाड़ना, खोलना। मही करना = बिलोना। बलि करो = दो। घड़ा करो = लगाओ।

महाभाष्यकार ने 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) सूत्र पर 'करना' के नानार्थ का हृदयावर्जक उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह संस्कृत की तात्कालिक लोक-प्रियता का उत्तम निदर्शन है—'पृष्ठं कुरु' 'पादौ कुरु' उन्मृदानेति गम्यते' = पिता-पुत्र नदी पर स्नान कर रहे हैं। पिता ने पुत्र से कहा—पृष्ठं कुरु = पीठ को करो = मलो। पादौ कुरु = पैरों को करो = मलो। भगवान् पतञ्जलि एक उदाहरण और देते हैं—'निक्षेपणे चापि वर्तते—घटे कुरु, कटे कुरु, स्थापयेति गम्यते' = 'करना' निक्षेपण में भी होता है—घड़े में करो = रखो, चटाई पर करो = रखो। महाभाष्य का स्थापनार्थक यही 'कुरु' बुन्देल-खण्ड में कुरोबौ 'कुरो दो' या कुरैबौ 'कुरै दो' हो गया[1]। यह 'कुरै' या 'कुरौ' शब्द ऐसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है जो भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर डाली जा सके।

वेणीसंहार नाटक में निराश युधिष्ठिर द्रौपदी से कहते हैं—'कृष्णे ! न कश्चिद् अस्मद्वचनं करोति।' इसका सामान्यतः अर्थ हुआ—'हे द्रौपदि ! कोई हमारा वचन नहीं करता'। वस्तुगत्या यहाँ 'करोति' = 'करना' का अर्थ है—'शृणोति' = सुनना। 'वचनम्' = वचन का अभिप्राय है—'वक्ति' = कहना से। वक्ति कहने पर एकदम छूटते ही अन्वय होता है—'शृणोति' =

---

१. यह कूटः > कूड़ा > कूरा शब्द का नामधातु नहीं है। कुरौ (< कुडव) और कुरैया शब्द भी 'कूट' से संबन्ध नहीं रखते। अन्न की राशि और कूरा का वाचक 'कुड़' शब्द हिन्दी-शब्द-सागर में देशज बताया गया है।

सुनना से; और शृणोति का होता है 'करोति'=करना से। कहना, सुनना और करना क्रमिक क्रियाएँ हैं। प्रस्तुत वाक्य—'न कश्चिद् अस्मद्वचनं करोति'—में न=निषेधार्थक आत्यन्तिकता का सूचक है। अतः वचन मानना=आज्ञा पालन करना तो दूर रहा, कोई सुनता तक नहीं 'करोति'=करना का अर्थ हुआ।

'कृतम्=उपकारं जानाति यः स कृतज्ञः' में कृत=करना (किया हुआ) का अर्थ उपकार होता है। 'किं करोमि? क्व गच्छामि' में करोति=करना का तात्पर्य है 'असमर्थ होना'।

'तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्यश्च यत्नतः'—(पञ्चतन्त्र) में क्रिया=करना का अर्थ—जलाना (दाहकर्म), जलदान, पिण्डदान आदि होता है।

'सुहृदां हितकामानां न करोति हि यो वचः' (पञ्चतन्त्र) में 'करोति'=करना का अर्थ होता है—'श्रद्दधाति'=श्रद्धा रखना।

मनुस्मृति में—

'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा' श्लोक-गत 'कुर्यात्'=करना का अर्थ 'उच्चारयेत्'=उच्चारण होता है। 'अध्ययन के आदि तथा अन्त में ओंकार का उच्चारण करना चाहिए।'

अमरसिंह[1] ने क्रिया=करना के नौ अर्थ लिखे हैं—(१) आरम्भ, (२) निष्कृति (चुकता, फेरना), (३) शिक्षा, (४) पूजन, (५) सम्प्रधारण, (६) उपाय, (७) कर्म, (८) चेष्टा, और (९) चिकित्सा। 'करना' सर्वार्थवाचक है। अतः अमरकार का यह अर्थ-परिगणन उपलक्षणमात्र है।

तन्त्रवार्तिक में श्लोक है—

तत्रैव शक्यते वक्तुं येऽन्धपङ्ग्वादयो नराः।
गृहस्थत्वं न शक्ष्यन्ति, कर्तुं तेषामयं विधिः॥

प्रस्तुत पद्य-गत—'गृहस्थत्वं कर्तुं न शक्ष्यन्ति' वाक्य का अर्थ हुआ—'गार्हस्थ्य का निर्वाह नहीं कर सकते'। यहाँ 'कर्तुम्' = 'करना' को निर्वाह अर्थ-परक समझना चाहिए।

शाक्यादयश्च सर्वत्र कुर्वाणा धर्मदेशनाम्।
हेतु-जाल-विनिर्मुक्तां न कदाचन कुर्वते॥

---

१. आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजनं संप्रधारणम्।
उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रियाः॥

अमरकोश ३।३।१५६—१५७

श्लोक में 'धर्मदेशनां कुर्वाणाः' तथा 'हेतुजालविनिर्मुक्तां धर्मदेशनां न कुर्वते' वाक्य-गत 'कुर्वाणाः' 'कुर्वते = 'करना', प्रचार एवं शिक्षार्थ-परक है। अतः अर्थ होगा—'बुद्ध प्रभृति सब जगह धर्मोपदेश की शिक्षा तो देते हैं (प्रचार करते हैं) किन्तु हेतु-जाल से विनिर्मुक्त धर्मदेशना के प्रचार का नाम तक नहीं लेते।'

'ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्' मनुस्मृति की इस अर्धाली में 'धर्मं चक्रिरे' का सामान्यतः अर्थ हुआ—'धर्म किया'। सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर प्रतीत होता है कि 'चक्रिरे' = 'करना' का तात्पर्य यहाँ 'विधान' अथवा व्यवस्थापन से है। अतः उक्त श्लोक का अर्थ हुआ—'ऋषियों ने विधि बनायी (व्यवस्था की) है कि जो अनूचान हो वह हममें बड़ा है।'

'करना' का समानार्थक विपूर्वक √धा (धारणपोषणयोः) धातु और अनु, व्यव पूर्वक√स्था (गतिस्थैर्ये) धातु भी हैं। इनके अर्थ एक दूसरे के द्वारा प्रसङ्गानुसार व्यवस्थापनीय होते हैं। इन तीनों में—'करना' की विशेषता इसलिए है क्योंकि यह धातु उक्त दोनों धातुओं के अर्थों को कह सकता है किन्तु उक्त दोनों धातु 'करना' अर्थ को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाते। इसका कारण 'करना' की क्रियासामान्य-वाचकता है—(वाक्यपदीय, प्रकीर्णटीका, उपग्रह–१४)। 'धर्मं चक्रिरे'–गत भाव वि-पूर्वक √धा एवं व्यव-पूर्वक √स्था धातुओं द्वारा प्रतिपाद्य था; पर इस अर्थ को व्यापकत्वेन अभिव्यक्त करने की प्रभुता 'करना' में होने के कारण उस द्वारा ही कार्य लिया गया।

'करना' का सामान्य अर्थ देखकर विशेष अर्थ-सङ्गति सर्व-जन-सुलभ नहीं हो पाती। ऐसी दशा में 'करना' से पूर्व प्रयुक्त विशेषण शब्द की क्रिया अथवा उसकी रूढ़ि द्वारा अर्थ-बोध दुष्कर नहीं होगा। उदाहरणतः वेणी-संहार (पूना संस्करण १८६७ ई०) में युधिष्ठिर कहते हैं—'वृकोदरस्य उदक-क्रियां कुरु'= 'प्रिय भीमसेन की जल-क्रिया करो' उदक-क्रिया के सामान्यतः अर्थ आचमन, जलपान, स्नान, पाद-प्रक्षालन आदि होते हैं। जल-क्रिया का विशेष अर्थ 'जलाञ्जलि', तिलाञ्जलि होता है। क्रिया = 'करना' से पूर्व 'जल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इसकी प्रासङ्गिक क्रिया 'दान' है। 'करना' के सामान्यवाचक होने के कारण जल-दान का सामान्य उपकरण अञ्जलि होगी। मरणोत्तर जलाञ्जलि (जल-दान) के साहचर्य से तिल का भी ग्रहण हो जाएगा। इस प्रकार उदक-क्रिया का अर्थ जलाञ्जलि और तिलाञ्जलि हो जाएगा।

अँग्रेजी भाषा में करना अर्थ वाले 'डज्, डू, डिड्' सहायक क्रिया के रूप

में भी प्रयुक्त होते हैं। 'करना' सर्वत्र अनुस्यूत रहता है यह भारतीय भाषा-कोविदों ने भलीभाँति समझा था। फलतः 'करना' अकर्मक धातुओं में भी अनुगत रहता है। 'देवदत्तः भवति' में 'भवति' को क्रिया-रहित कौन कहेगा? यहाँ भवति का अर्थ होगा—'सत्तां करोति'।

समष्टितः उद्धृत समस्त अर्थों की विवेचना द्वारा निष्कर्ष निकलता है कि 'करना' का अर्थ समान्य व्यापार-मात्र है। 'करना' का प्रयोग भर कर देने से प्रासङ्गिक सम्पूर्ण व्यापार भासित होने लगते हैं। 'भोजनं करोमि' = 'भोजन (रोटी आदि) करता हूँ' के, 'बनाता हूँ' तथा 'खाता हूँ' दोनों अर्थ प्रसङ्गानुसार मननीय हैं। 'करना' तो केवल तत् तत् व्यापारों की ओर संकेत करता है। जब किसी सज्जन के भोजन बनाने की तैयारी करने पर कोई आगन्तुक उससे पूछता है—'किं करोषि भोः?' = क्या करते हो जी? तब अनुयुक्त व्यक्ति उत्तर देता है—'भोजनं करोमि'। प्रष्टा इस 'करोमि' को सुनकर भोजन-निर्माता के चारों ओर बिखरी सामग्री के बल पर 'करोमि' = 'करता हूँ' से 'पचामि' = 'पकाता हूँ' अर्थ को ही समझता है। भोजन करने (भक्षण) की बेला 'भोजनं करोमि' = 'भोजन करता हूँ' उत्तर देने पर श्रोता तत् तत् समस्त व्यापार (अन्न-मुख-संयोग) देखकर 'करोमि' से 'खादामि' = खाता हूँ अर्थ अवगत करता है[1]।

१. इस विषय में विशेष ज्ञातव्यता के लिए देखिए हमारा प्रकाशयिष्यमाण ग्रन्थ—'क्रियावाचक धातु और अर्थ-विज्ञान'।

अनुक्रमणिका

सूचना

पाठक कृपया ५५,५६ तथा ५७वें पृष्ठ के जजाहुति के स्थान पर जहाहुति पढ़ेंगे।

सहायक ग्रन्थों तथा संक्षेपों की सूची

अथर्ववेद (शौनक संहिता)

अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र
(ब्लूम फील्ड-संपादित)

अन्धकारयुगीन भारत
—श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल

अभिधान-चिन्तामणि (हैम कोश)
प्रकाशक – जसवंतलाल गिरधर-लाल शाह, अहमदाबाद १

अमरकोश (रामाश्रमी टीका संवलित)

अशोक के धर्मलेख—जनार्दन भट्ट एम. ए., ज्ञानमण्डल, काशी

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प— रविचन्द्र, गणपतिशास्त्रिसंशोधित, अनन्त-शयन, १९२२ ई०

आव (= आवश्यकसूत्र)

इतिहासोपनिषद्

उणादि

उदयपुर राज्य का इतिहास— महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

उपदेशपद

ऋक्तन्त्र

ऋग्वेद

ऐतरेय ब्राह्मण

औपपातिक सूत्र

कविकल्पद्रुम— वोपदेव
(गजानन बालकृष्ण पल्सुले संपादित, पूना, १९५४)

काठक संहिता

कात्यायन श्रौत सूत्र

कुमा (=कुमारपालचरित)

कूर्म पुराण

कौटलीय अर्थशास्त्र

क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामी
(डॉ० ब्रूनो लीबिश-संपादित— १९३० ई०)

गउड=गउडवहो—वाक्पति
(भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट्, पूना)

गोभिल गृह्य-सूत्र
(भट्टनारायण-भाष्य-संवलित)
कलकत्ता, १९३६ ई०

जातक

ठाणंगसुत्त

तपोभूमि—रामगोपाल मिश्र

तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैसं = तैत्तिरीय संहिता
(सायणभाष्य, भट्टभास्करभाष्य)

त्रिपुरी का इतिहास
—व्योहार राजेन्द्रसिंह

दशोणादि

दीघनिकाय

देवीभागवत

धातुवृत्ति—सायण

निरुक्त—यास्क

पउम (=पउमचरिअ ,

पण्णवणासुत्त
पाइअ सद्द महण्णवो
—पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ
पाणिनीय धातुपाठ-समीक्षा
—डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
पुग्गलपञ्ञत्ति
पेतवत्थु
पैप्पलाद संहिता
बुंदेलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास
—गोरेलाल तिवारी
बुद्धकालीन भारतीय भूगोल
—भरतसिंह उपाध्याय
बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
—डॉ० रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल
बृहत् संहिता (भट्टोत्पलटीकासंवलित)
—वराहमिहिर
ब्रह्माण्डपुराण
भारतभूमि और उसके निवासी
—जयचन्द्र विद्यालङ्कार
भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय भाग)
—डॉ० ईश्वरीप्रसाद
भारतवर्ष का बृहत् इतिहास
—भगवद्दत्त जी
'भूगोल' (पत्रिका)—प्रयाग
मत्स्यपुराण (जीवानन्द विद्यासागर, कलिकाता तथा) गङ्गाविष्णु
महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना)
महाभाष्य - भगवान् पतञ्जलि
मार्कण्डेयपुराण
यशस्तिलकचम्पू
—सोमदेव सूरि
रघुवंश महाकाव्य- कालिदास
लिङ्ग-पुराण (मनसुखराय मोर संस्करण)
वामन-पुराण (खेमराज श्रीकृष्णदास, वेङ्कटेश्वर प्रेस, मुम्बई)
वायु-पुराण
वाल्मीकीय-रामायण
(गीताप्रेस, गोरखपुर सं०)
विष्णु-पुराण
वैखानस-धर्म-प्रश्न
वैदिक-पदानुक्रम-कोष
वैद्यक-रत्न-माला
वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी
—भट्टोजिदीक्षित
शतपथ-ब्राह्मण
शब्द-कल्पद्रुम—राधाकान्त देव
शिवोपनिषद्
श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भागवत (अनेकटीका-संवलित, वृन्दावन)
षड्-भाषा-चन्द्रिका—लक्ष्मीधर

सुज [=सूर्यप्रज्ञप्ति]
सुत्त-निपात
सुपास-नाह-चरिअ
सुर (= सुरसुंदरीचरित्र)
सुश्रुत
सूर-सागर—सूरदास
स्कन्द-पुराण
हिन्दी-शब्द-सागर—श्यामसुन्दरदास

जर्मन-अँग्रेजी ग्रन्थ और पत्रिकाएँ

1. Alois Walde : Vergleichendes Wörterbuch Indo-Germanic Sprachen herausgegeben und bearbeitet (Julius Pokorny).
2. Ancient India (As described by Ptolemy).
3. Archæological Survey of India Reports.
4. Burma : A Hand-book of Practical Information —Sir J. George Scott, K. C. I. E.
5. Dictionary of The Kashmiri Language—G. A. Griersen.
6. Epigraphia Indica.
7. Ethnography of Ancient India—Robert Shafer.
8. Historical Geography of Ancient India —B. C. Law.
9. Indian Culture (Journal).
10. J. A. S. B. (Journal of The Asiatic Society Bengal).
11. J. R. A. S. (Journal of The Royal Asiatic Society).
12. Mārkaṇḍeya Purāṇa —Pargiter.
13. Purāṇa Texts—Pargiter.
14. P.T.S. Pāli English Dictionary—T. W. Rhys Davids & William Stede.
15. Researches on Ptolemy's Geography of Eastern Asia.
16. Roots, Verb-forms, And Primary Derivatives of The Sanskrit Language —W. D. Whitney.
17. Sanskrit Wörterbuch —Otto Böhtlingk und Rudolf Roth.
18. The Century Atlas of The World.
19. The Early History of India—Vincent A. Smith.
20. The Geographical Dictionary of Ancient And Mediæval India —Nundo Lal Dey.
21. The Geography of Ancient India—A. Cunningham.
22. Tribes And Castes —W. Crooke, B. A.
23. W. Z. K. M.=Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes (Vienna Oriental Journal).

इस पुस्तक के विषय में
विद्वानों की सम्मतियाँ

इतिहास-अनुसंधान मेरा प्रिय विषय होने के कारण मैं इसे पढ़ने का लोभ संवरण नहीं कर सका। वास्तव में इस पुस्तक में मौलिकता के दर्शन हुए। पुलिन्द की मौलिकता और संगति लगाने में आपने पूर्ण श्रम किया है। उसमें यथार्थ का दर्शन होता है। आपकी विद्वत्ता और ज्ञान-गाम्भीर्य प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है। अभिनंदन ! आपने इस कृति के द्वारा बुन्देलखण्ड की महती सेवा की है और एक नवीन दिशा दी है। आशा है आप और खोज करेंगे। आभारी

पद्मभूषण सूर्यनारायण व्यास (उज्जैन)

★

व्यापक और गम्भीर अनुशीलन के आधार पर नयी दृष्टि से बुन्देलखण्ड के प्राचीन भू-भागको निर्धारित करने का लेखक ने प्रयास किया है। उन्होंने इस विषय पर अनाग्रह भाव से और तटस्थ दृष्टि से अनुशीलन-लब्ध सामग्री के आधार पर स्वपक्ष की उपस्थापना की है। अपने मत के प्रति प्रमाण-पुष्ट आस्था और निष्पक्षता-बोध के साथ-साथ पूर्वाग्रह का अभाव है।

सब मिलाकर ग्रन्थ में विवेचित और मत-स्थापना के लिए संकलित सामग्री का महत्त्व पर्याप्त है। ग्रन्थ निर्माण के संबद्ध विषय की पूर्व उपलब्ध और विवेचित सामग्री एवं विषय के प्रस्तुतीकरण में निश्चय ही तर्क-संगत नूतनता है।

करुणापति त्रिपाठी
(शिक्षा-शास्त्र-विभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)